



श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम्
श्रीकलासविद्यालोकस्यैकपञ्चाशत्तमः ५१ सोपानः

अष्टोत्तरशतन्यायमाला

राष्ट्रभाषानुवादान्विता



: संकलयिता :

आचार्यमहामण्डलेश्वरः स्वामिविद्यानन्दगिरिः

प्रकाशक :

श्रीकैलासविद्याप्रकाशनम्, हृषीकेशः (उ.प्र.)

(श्री ब्रह्मविद्यापोठकैलासाश्रमदशमपाठाचार्यपट्टाभिषेकरजतमहोत्सवे प्रकाशिता)

[अस्य ग्रन्थस्य सर्वाधिकारः प्रकाशकाधीनः]

प्रथमसंस्करणम्

२,०००

शाङ्कराब्दः १२०६

वि० सं० २०५० सन् १९९३

मूल्यम्

२० रुप्यकाणि

पुस्तकप्राप्तिस्थानानि:--

श्री कैलास आश्रम, कैलासगेट, हृषीकेशः—२४६२०१

श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतबोला, हरिद्वार—२४६४०१

श्री कैलासविद्यातीर्थ, ६-भाई वीरसिंह मार्ग, नई दिल्ली—११०००१

श्री कैलासधाम, कैलासधाम मार्ग, झूँसी (प्रयागराज)—२२१५०६

श्री दक्षिणामूर्ति संस्कृत महाविद्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी—पिन : २२१००१

श्री चौखम्बा विद्याभवन चौक, वाराणसी—२२१००१

श्री चौखम्बा विश्वभारती चौक, वाराणसी—२२१००१

ॐ

॥ ओ३म् ॥

सम्पादकीयम्

न्याय के अनेक अर्थों में एक अर्थ—लोकरूढ़ नीतिवाक्य या उपयुक्त दृष्टान्त । सिद्धान्त या शास्त्रप्रक्रिया को स्पष्ट रीति से समझने के लिए ऐसे न्यायों का उल्लेख भाष्य एवं अन्य ग्रन्थों में देखा जा सकता है । लेकिन वे अन्यान्य जगह बिखरे हुए हैं । इन्हों का सुव्यवस्थित सङ्कलन कैलास विद्या प्रकाशन की इस 'अष्टोत्तर शतन्यायमाला' पुस्तिका में किया है ।

परमपूज्य महामण्डलेश्वर श्रीमद् स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज ने हस्तलिखित संस्कृत व्याख्यान युक्त न्याय संग्रह को श्री कैलास आश्रम के पुस्तकालय में उपलब्ध ब्रह्मलीन श्रीमद्-स्वामी अनन्तानन्द गिरिजी महाराज के एक पुस्तक में देखा था । इस पुस्तक रचना में यह पहली प्रेरणा है । हस्त लिखित संग्रह की कई त्रुटियों को सुधार कर, अव्याख्यायित कई न्यायों के व्याख्यान संस्कृत भाषा में स्वयं पूज्य महाराज श्री ने किया है । वर्णानुक्रम से व्यवस्थित इस न्यायमाला का सम्पूर्ण हिन्दी व्याख्या उन्होंने ही किया है । इस व्याख्यान को लिपिबद्ध एवं उसकी प्रेसकोपी ब्रह्मचारी उत्तमानन्द जी ने श्रद्धापूर्वक किया है । वे धन्यवाद के पात्र हैं । आचार्य महामण्डलेश्वर परमपूज्य महाराजश्री का पट्टाभिषेक रजत महोत्सव के पावन प्रसङ्ग पर इस पुस्तिका को सम्पादन

कर प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है ! एतदर्थ हम कैलास आश्रम के अधिष्ठातृ
देव एवं समस्त मनीषी आचार्यों के अभारी हैं ।

यदि यह लघुकाय पुस्तिका सभी जिज्ञासुओं को अत्यन्त उपयुक्त होगी तो और विशेषतः
संस्कृत भाषा के अनभिज्ञ एवं अल्पाभिज्ञ स्वाध्यायानुरागी जन इस 'अष्टोत्तर शतन्यायमाला' से
अपने ज्ञान भण्डार की वृद्धि करेंगे तो अपना यह प्रयत्न सफल मानेंगे । इत्योऽंशम् ॥

भवदीयः

स्वामी निश्चलानन्द गिरि

श्री कैलास आश्रम

ऋषिकेश

रथ यात्रा

वि० सं० २०५०

शाङ्कुराब्द १२०६



प्रस्तावना

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः



चौरासी लाख योनियों में मनुष्य शरीर को सर्वश्रेष्ठ कहा है। इसकी श्रेष्ठता के कतिपय कारणों में से एक व्यक्त-वाणी भी कारण है। मनुष्य अपनी संवेदनाओं एवं अनुभूतियों को वाणी के द्वारा दूसरों को बतलाता है। वह वाणी किसी भी भाषा की हो सकती है। शक्ति, लक्षणा एवं व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा शब्द से मनुष्य अपने मनोभाव को व्यक्त करता है। कभी-कभी मुहावरों के द्वारा भी शब्द से अर्थाभिधक्ति करते देखा गया है। मुहावरे को संस्कृत भाषा में लौकिक न्याय कहा गया है। ऐसे न्यायों का उल्लेख संस्कृत साहित्य में स्थल-स्थल पर मिलता है। उन न्यायों के अर्थावबोध के लिए चुटकीली कथा सुनाया करते हैं, जिसे सुनकर श्रोताओं को मनोरञ्जन के साथ सरलता से अर्थावबोध भी होता है।

संस्कृत साहित्य में प्रकीर्णन्यायों को संग्रह कर प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी अनुवाद के सहित प्रकाशित करा रहें हैं। इससे एक स्थान पर यथासम्भव अधिकाधिक न्यायों का संग्रह हो जाने पर पाठकों को संस्कृत साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन में सौविध्य प्राप्त होगा। इसी आशय से यह प्रयास किया गया है। कैलास विद्या प्रकाशन की ओर से चित्सुखी के तोषिणी संस्करण में केवल

संस्कृत भाषा में ही सङ्कलन कर परिशिष्ट के रूप में दिया गया है, जो सर्वसामान्य के लिए उपयोगी नहीं जान पड़ता था। अब उसकी हिन्दी अनुवाद के सहित पृथक् पुस्तकाकार रूप में उपलब्धि होने पर सभी पाठक इसका लाभ उठा सकेंगे। इसीलिए अष्टोत्तरशतन्यायमाला नामक पुस्तक हिन्दी अनुवाद के सहित पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें परमहर्ष एवं आत्मसन्तोष का अनुभव हो रहा है। इसके सम्पादनादि का दायित्व किसी अन्य विद्वान् को पहले सौंपा था, किन्तु वे इसका श्रेय न ले सके। पुनः इसके सम्पादनादि कार्य को पूर्ण तन्मयता के साथ श्री स्वामी निश्चलानन्द गिरिजी ने सम्पन्न किया है। अतः वे भगवत्कृपा के पात्र हैं और पाठकों के सम्मानार्थ हैं। आशा है पाठकगण भी इस पुस्तक से पूर्ण लाभ अवश्य उठावेंगे। इत्योशम्।

रथ यात्रा

वि० सं० २०५०

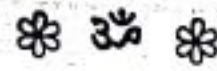
शाङ्कराब्द १२०६

भगवत्पादीयः

आचार्यमहामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि

कैलास आश्रम, ऋषिकेश





॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

अष्टोत्तरशतन्यायमाला



१. अजाकृपाणीयन्यायः

कण्डूयनार्थं स्तम्भादौ शिथिलबन्धखड्गे छागी ग्रीवां प्रसारयति, यदृच्छया च ग्रीवा छिद्यते; तथाभूतोऽजाकृपाणीयन्यायः ॥ काकतालीयन्यायसमः ॥ यथा भूमि खनन्त्याजयात्मवधाय कृपाणो दर्शितस्तत्तुल्यं वृत्तं केनचिदात्मविनाशाय कृतमजाकृपाणीयम् ।

१. किसी स्थान पर एक खम्भा था, उसमें एक तलवार लटक रही थी जिसका बन्धन ढीला था । वहाँ संयोगवश एक बकरी कन्धे खुजलाने लगी, दैवयोग से उसकी गर्दन कट गयी । बस यही अजाकृपाणीय न्याय है । इसी को काकतालीय न्याय भी कहते हैं । अर्थात् अपने विनाश के लिए जब स्वयं ही व्यक्ति कुछ करता है, जैसे भूमि खोदने वाली बकरी ने अपने वध के लिए कृपाण हिला दिया, ऐसे स्थान पर इस न्याय का उपयोग होता है ।

२. अजाविन्यायः

यत्रैकोऽविः कूपे पतति तमवलोक्यान्वेऽवयस्तत्र पतन्ति तद्वत् ।

२. जहाँ एक भेड़ कुएँ में गिरती हो, उसे देख कर दूसरी भेड़ें भी कुएँ में कूद पड़ती हैं, इसी को अजाविन्याय कहते हैं ।

३. अन्तर्दीपिकान्यायः — (देहलीदीपन्यायः, मध्यदीपन्यायः, अन्त्यदीपन्यायः)

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । नित्यं सर्वदा नित्यं सत्येन नित्यं तपसा नित्यं सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्यशब्दोऽन्तर्दीपिकान्यायेनानुषक्तव्यः । देहलीदीपन्यायः, मध्यदीपन्यायः, अन्त्यदीपन्याय इति सर्वं समानार्थकम् ।

३. किसी गद्य या पद्य रचना में कोई विशेषण मध्य में या अन्त में रखा गया हो जिसका अन्वय आगे और पीछे के कई विशेष्यों के साथ करना अभीष्ट हो, यथा मुण्डकोपनिषद् के 'सत्येन-लभ्यः' इस मन्त्र में पड़ा हुआ नित्यं पद सर्वत्र अन्वित होता है । नित्यं सत्येन, नित्यं तपसा, नित्यं सम्यग्ज्ञानेन, नित्यं ब्रह्मचर्येण इत्यादि रूप से अन्वय करना अभीष्ट है । इसी को अन्तर्दीपिकान्याय, देहलीदीपन्याय, मध्यदीपन्याय और अन्त्यदीपन्याय भी कहते हैं क्योंकि ये सभी समानार्थक हैं ।

४. अन्धकवर्तकीयन्यायः

अन्धकश्च वर्तकाच्च अन्धकवर्तकम् । यथा कश्चिदन्धकः पुमान् करतलेन करं ताडयन्वर्तते, तस्य करद्वयमध्ये वर्तकः पक्षिविशेषः समायाति । स तु दुर्भलस्तथा मानवभवे सत्सङ्गतिर्दुर्लभावर्तते । तथा हि संसारसागरमिमं भ्रमता नितान्तं जीवेन मानवभवः समवापि देवात् । तत्रापि यद्भुवनमान्यकुले प्रसूतिः सत्सङ्गतिश्च तद्विहान्धकवर्तकीयम् ।

४. कोई अन्धा पुरुष दोनों हाथों से तालियाँ पीटता हुआ चल रहा था । संयोगवश उसके हाथों के मध्य बत्तख पक्षी आ गया, जो सर्वथा दुर्लभ था । इसी प्रकार मानव जन्म में सत्संगति

दुर्लभ है । इस संसार में सदा चौरासी लाख चक्कर काटने वाला जीव दैवयोग से मनुष्य शरीर प्राप्त करता है । उसमें भी ब्राह्मणकुल में जन्म और सन्तों का समागम प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है । इसी को अन्धकवर्त्तकीयन्याय कहते हैं ।

५. अन्धगजन्यायः

यत्रानेकेऽन्धा गजमेकं नानाविधं पश्यन्ति तद्वदित्यर्थः ।

५. जहाँ पर अनेक अन्धों ने एक हाथी को नानारूप में देखा हो; पूँछ पकड़ने वाले ने दण्डा कहा, सूँड़ पकड़ने वाले ने खम्भा कहा, कान पकड़ने वाले ने सूप कहा, पैर पकड़ने वाले ने वृक्ष का तना कहा और पेट पकड़ने वाले ने बड़ा मटका कह डाला । ऐसे ही विवेकशून्य व्यक्ति परतत्त्व के विषय में अटकलें लगाया करते हैं, वहीं पर अन्धगजन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

६. अन्धगोलाङ्गूलन्यायः

यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमात्मेत्युपदिशेत्प्रमाणभूतं शास्त्रं सश्रद्धधानतयान्ध-गोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्तद्व्यतिरिक्तं चात्मानं न प्रतिपद्येत, तथा सति पुरुषार्थाद्विहन्येतानर्थं च ऋच्छेत् ।

६. मोक्षाभिलाषी अज्ञानी जीव को कदाचित् शास्त्र ने अचेतन अनात्मा प्रकृति को आत्मा कह दिया हो तो वह प्रमाणभूत शास्त्र को श्रद्धापूर्वक मानकर उसके उपदेशानुसार अनात्मा में आत्म-दृष्टि बनाये रखेगा, उसमें आत्मदृष्टि का परित्याग नहीं करेगा और न अचेतन प्रकृति से भिन्न

आत्मा को समझ पायेगा। ऐसी स्थिति में वह पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जायेगा साथ ही अनर्थ को भी प्राप्त करेगा। जैसे किसी बंचक ने अन्धे को पागल साँड़ की पूँछ पकड़ा दी और कहा, 'तुम इसे पकड़ें हुए अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाओगे।' वह अन्धा उस बंचक की बात मानकर साँड़ की पूँछ पकड़कर अनर्थ को प्राप्त होता है। ऐसे स्थान पर अन्धगोलाङ्गूलन्याय की प्रवृत्ति होती है।

७. अन्धपरम्परान्यायः

तत्र ये साधवस्ते शास्त्रेणानुशिष्यन्ते। असाधुभ्यो विविक्ताः प्रकृतिप्रत्ययविभागेन ज्ञाप्यन्ते साधव इति। कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनावगतमेते साधव इति। आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन आपिशलिना तर्हि केनावगतम्। ततः पूर्वेण व्याकरणेन यद्येवमन्धपरम्पराप्रसङ्गः। तद्यथा शुक्लं क्षीरमित्यन्धेनोक्ते केनेदमवगतमिति पृष्ठो यदाऽन्धान्तरो निर्दिशात् सोऽप्यन्धान्तरं तदा नैतद्वचः शौक्लये प्रमाणं भवति तादृगेतत्।

७. असाधु शब्दों से साधु शब्दों को पृथक् कर प्रकृतिप्रत्ययविभाग द्वारा शास्त्र उपदेश करता है। वहाँ एक प्रश्न होता है कि यह आचार्य पाणिनी को कैसे जान पड़ा कि ये शब्द साधु हैं। यदि कहा जाय कि इतसे पूर्व आपिशलि आचार्य ने ऐसा ही उपदेश किया था, तो पुनः प्रश्न होगा कि उन्हें यह रहस्य कैसे अवगत हुआ। इसके लिए पूर्व-पूर्व व्याकरण को प्रमाण माना जाय तो ऐसी स्थिति में अन्धपरम्परा का प्रसङ्ग आ जायेगा। जैसे किसी अन्धे ने अन्धे को कहा कि दूध सफेद होता है। उसने कहा कि यह तुम्हें कैसे मालुम पड़ा। उसने उत्तर दिया कि हमें अमुक अन्धे ने ऐसा ही

बताया था । ऐसी स्थिति में दूध की शुक्लता में इन अन्धों का वचन प्रमाण नहीं माना जाता । ऐसे स्थान पर अन्धपरम्परान्याय माना जाता है । अतः शब्दसाधुत्व के सम्बन्ध में महर्षि पाणिनी स्वतः प्रमाण हैं, इन्हें इस सम्बन्ध में किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है ।

८. अरुन्धतीप्रदर्शनन्यायः

यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां ताराममुख्यां प्रथममरुन्धतीतिग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति तद्वन्नायमात्मेति ब्रूयात् । यथारुन्धतीनिदर्शने बह्वीष्वपि तारास्वमुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु याऽन्त्या प्रदर्श्यते सा मुख्यैवारुन्धतीभवत्येवमिहाप्यानन्दमयस्य सर्वान्तरत्त्वान्मुख्यमात्मत्वम् ।

८. अरुन्धती तारा दिखलाने वाला व्यक्ति पहले उसके समीपवर्ती अमुख्य स्थूल तारा को अरुन्धती शब्द से बोध कराता है, तत्पश्चात् वहां से उसकी दृष्टि हटाकर मुख्य अरुन्धती तारा का उपदेश करता है । ऐसे ही प्रत्यगात्मबोध के लिए अन्नमयादि पञ्चकोश के अन्तर्गत आनन्दमयकोश को भी आत्मरूप से शास्त्र उपदेश करता है । पुनः उसका भी निषेधकर आनन्दमय-कोश के विम्बभूत आनन्द को मुख्यात्मरूप से उपदेश करता है । इसी को अरुन्धती प्रदर्शनन्याय कहते हैं ।

९. अर्धजरतीयन्यायः

यथा स्त्री न तरुणी श्लथस्तनत्वात्कृष्णकेशत्वान्न जरती वक्तुं शक्यते तद्वत्सिद्धासिद्धं प्रयोजनम् । अर्धमुखमात्रजरत्या वृद्धायाः कामयते नाङ्गानीति सोऽयमर्धजरतीयन्यायः । न हि कुक्कुटादेरेकदेशो

भोगाय पच्यत एकदेशस्तु प्रसवाय कल्प्यते, विरोधात् । ब्रह्मविद्या स्वफलैः कर्माणि नापेक्षते तथा स्वोत्पत्तावपि नापेक्षतेऽन्यथा क्वचिदपेक्षा क्वचिन्नेत्यर्थजरतीयत्वापत्तिरिति प्राप्ते आह सर्वपेक्षेति नार्धजरतीयन्यायो योग्यतावशादेवैकस्यैव कार्यविशेषेणवपेक्षानपेक्षयोरुपपत्तेः, यथा लाडूलवहनेऽनपेक्षितोऽश्वो रथवहनेऽपेक्ष्यते तद्वत्स्वोत्पत्तौ तु विद्याकर्मपेक्षते ।

६. कोई स्त्री तरुणी इसलिए नहीं है क्योंकि उसका स्तन शिथिल है, उसके केश काले होने से वृद्धा भी नहीं कह सकते । ऐसी स्थिति में आधे मुख मात्र उस वृद्धा के कुछ अवयवों को कोई पुरुष चाहता है और कुछ को नहीं चाहता, इसे अर्धजरतीयन्याय कहते हैं । क्या किसी मुर्गी का आधा भाग खाने के लिए पकाया जाय और आधा भाग अण्डे देने के लिए छोड़ दिया जाय, यह हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता क्योंकि यह विरुद्ध बात है । ऐसे हो ब्रह्मविद्या अपने फल मोक्ष के लिए कर्मों की अपेक्षा नहीं करती तो अपनी उत्पत्ति के लिए भी कर्मों की अपेक्षा नहीं करेगी अन्यथा किसी अंश में अपेक्षा और किसी अंश में अनपेक्षा मानने पर अर्धजरतीयन्याय का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । ऐसा पूर्वपक्ष होने पर भगवान् वेदव्यास ने 'सर्वपेक्षा' इत्यादि सूत्ररचना द्वारा यह सुस्पष्ट कर दिया है कि यहाँ पर अर्धजरतीयन्याय की प्रवृत्ति नहीं होती । योग्यता को देखते हुए एक ही व्यक्ति की विशेष कार्य में अपेक्षा होती है और किसी कार्य में अपेक्षा नहीं भी होती । जैसे हल चलाने में अश्व की अपेक्षा नहीं होती किन्तु रथ वहन करने में उसकी अपेक्षा होती है, ठीक ऐसे ही ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्ति में कर्म की अपेक्षा रखती है किन्तु अपने फल मोक्ष देने में कर्मों की अपेक्षा नहीं रखती ।

१०. अल्पायाससिद्धिन्यायः

केवलाच्चेत् ज्ञानात् पुरुषार्थसिद्धिः स्यात्किमर्थमनेकायाससमन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः । पूर्वोक्तन्यायात् तद्यथा पथिजातेऽर्कं मधूत्सृज्य तेनैव पथा मध्वार्थिनः पर्वतं न गच्छेयुस्तादृशं हि तत्; अपिचाहुः 'अर्कं चेन्मधुविन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् । इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्' ।

१०. यदि केवल ज्ञान से मोक्ष की सिद्धि माने तो अनेकानेक परिश्रम से सिद्ध होने वाले कर्मों को मुमुक्षु क्यों करना चाहेगा । जैसे मार्ग में उत्पन्न आकड़ों में शहद के मिल जाने पर उसे छोड़ कर मध्वर्थी मधु के लिए पर्वत पर नहीं चढ़ता । इसी को पूर्वाचार्य की उक्ति से सुस्पष्ट किया गया है जिसे मूल में देखें । इसी को अल्पायाससिद्धिन्याय कहते हैं ।

११. अवयवशक्तेः समुदायशक्तिर्बलीयसीन्यायः

यथैकं तृणं हस्तिनं बन्धयितुमशक्तमपि तृणसमुदायो रज्जुरूपापन्नो बलिनं हस्तिनं निबन्धनाति । तद्वद्विवेकादिसाधनसम्पन्नः पुमान् वेदान्तविचारे समर्थो भवति । एतेन अकृतोपासकापेक्षया कृतोपासकस्य साधकस्य वैशिष्ट्यं मन्तव्यमिति भावः ।

११. एक तिनका यद्यपि हाथी को बाँधने में समर्थ नहीं है फिर भी रज्जु रूप में परिणत हुआ तृणसमुदाय बलवान हाथी को बाँध डालता है । ऐसे ही विवेक, वैराग्य, शमदमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता इन चार साधनों से सम्पन्न पुरुष वेदान्त विचार करने में समर्थ होता है । इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि अकृतोपासक की अपेक्षा कृतोपासक साधक विशिष्ट माना जाता है । ऐसे स्थान पर अवयवशक्तेः समुदायशक्तिर्बलीयसीन्याय प्रवृत्त होता है ।

१२. अशक्तोऽहं गृहारम्भे शक्तोऽहं गृहभञ्जने

दुष्टजनः कमपि नोपकरोति प्रत्युत सर्वानपकरोति, तस्यायं स्वभावस्तत्रैवायं न्यायः प्रवर्तते ।

१२. दुष्टजन किसी का उपकार तो नहीं करता किन्तु अपकार सबका करता है, क्योंकि उसका यह स्वभाव बन गया है । ऐसे स्थान पर ही अशक्तोऽहं गृहारम्भे शक्तोऽहं गृहभञ्जने यह न्याय प्रवृत्त होता है ।

१३. अशोकवनिकान्यायः

यथाऽशोकवनिकायां स्थिताऽपि सीता शोकसागरे निमग्नासीत् रावणेन निगृहीतत्वात् । तथा मायातत्कार्येषु सन्यत्वाग्रहेण परमात्मनोऽशोऽपि दुःखद्वन्द्वसागरे निमग्नो जीवो दरीदृश्यते । तत्रायं न्यायः प्रवर्तते । अथवा सत्स्वप्यनेकेषु स्थानेषु रावणेनाशोकवनिकायामेव सीता स्थापितेत्यत्र किं कारणमिति प्रश्ने न किमपि कारणम् । केवलं दशाननस्येच्छैव कारणं नान्यत् । स्वतन्त्रः पुरुष अनेकेषां साधनानां मध्ये स्वेच्छया किमपि साधनमुपादातुं शक्नोतीति तत्राप्ययं न्यायः प्रवर्तते ।

१३. लंका में रावण की अनेक वाटिकायें थीं, फिर भी सीता को रावण ने अशोक वाटिका में ही क्यों रखा ? यह प्रश्न दूसरी वाटिका और दूसरे स्थान पर सीता को रखने के बाद भी होता । इसमें रावण की इच्छा ही एकमात्र कारण है । ऐसे ही स्वतन्त्र पुरुष अनेकों साधनों में से किसी एक साधन को पकड़ कर यदि निरन्तर साधनरत हो तो वहाँ पर अशोकवनिकान्याय

प्रवृत्त होता है। इसका यह भी अर्थ होता है कि अशोक टिका में नावसीता रहतो हुई। वभीर के द्वारा निगूहीत होने के कारण जिस प्रकार शोकसमुद्र में निमग्न थी वैसे ही माया और माया के कार्य में सत्यत्व ग्रहण कर लेने के कारण परमात्मा का अंश जीव भी दुःखद्वन्द्वसागर में निमग्न दिखाई पड़ता है। ऐसे स्थल पर यह न्याय प्रवृत्त होता है।

१४. अश्मलोष्टन्यायः

यथा लोके दुर्भेद्यमश्मानं प्राप्य पांशुपिण्डलोष्टः पाषाणचूर्णायाश्मणि निक्षिप्तः स्वयमेव विध्वंसते, यत्रैतादृशी विवक्षा तत्रैवास्य न्यायस्य प्रवृत्तिः ।

१४. जिस प्रकार लोक में पाषाणखण्ड को चूर्ण करने के लिए फेंका गया ठूला उस दुर्भेद्य पाषाणखण्ड से टकराकर स्वयं ही विध्वस्त हो जाता है, ऐसे ही नासाभ्यन्तरचारी प्राण के साथ टकराकर असुरसमुदाय स्वयं ही नष्ट हो जाता है। ऐसी विवक्षा जहां पर हो वहीं पर अश्मलोष्ट-न्याय प्रवृत्त होता है।

१५. अस्त्रमस्त्रेण शाम्यति न्यायः

तन्वस्त्रमस्त्रेण शाम्यतीतिन्याये न काम्यैः काम्यानां निषिद्धैर्निषिद्धानां निवृत्तिरस्त्वित्यादि स्थलेऽस्य प्रवृत्तिः ।

१५. 'अस्त्र से अस्त्र शान्त होता है' इस न्याय के अनुसार काम्यकर्मों से काम्यकर्मों को और निषिद्धकर्मों से निषिद्धकर्मों को निवृत्ति होती है, वैसे ही विष से विष का शमन होता है। ऐसे स्थल पर इस न्याय की प्रवृत्ति होती है।

१६. अहिकुण्डलन्यायः

अहेः=सर्पस्य कुण्डलाकृतिवेष्टनं स्वाभाविकं, तथा यस्य यत्र स्वाभाविको धर्मो व्यपदिश्यते तत्रास्य प्रवृत्तिः । उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् । अत उभयव्यपदेशदर्शनादहिकुण्डलवदत्र तत्त्वं भवितुमर्हति । यथा अहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनीति च भेद एवमोहापीति ।

१६. कुण्डलाकृति वेष्टन सर्प का स्वाभाविक गुण है, वैसे ही जिसका जहाँ पर स्वाभाविक धर्म कहा गया है वहाँ पर इस अहिकुण्डलन्याय की प्रवृत्ति होती है । इसका संकेत उभयव्यपदेशाधिकरण में भगवान् वेदव्यास ने किया है । ब्रह्म का निर्विशेषरूप स्वाभाविक है और सविशेषरूप सोपाधिक है । इसीलिए अहिकुण्डलन्याय से ब्रह्म के उभयरूप का व्यपदेश उपनिषदों में मिलता है । सभी सर्प अभिन्न होते हुए भी कुण्डलाकार एवं लम्बायमान इत्यादिकरूप से भिन्न भी दिखाई पड़ते हैं ।

१७. आकाशमुष्टिहननन्यायः

यथाऽऽकाशो मुष्टिना हन्तुमशक्यस्तथाऽऽत्मापि शस्त्रादिनाऽपि हन्तुमशक्यः, उभयत्र निरवयवत्वस्य तुल्यत्वात् ।

१७. मुष्टिका से आकाश का हनन करना अशक्य है, वैसे ही शस्त्रादि के द्वारा आत्मा का हनन भी अशक्य है; योंकि आकाश और आत्मा दोनों ही समान रूप से निरवयव हैं ।

१८. आखुमार्जारन्यायः

यथाऽऽखुमार्जारयोः शाश्वतिको विरोधस्तद्वदविद्याब्रह्मविद्ययोः शाश्वतिको विरोधः । अतो नैकाधिकरण्यस्य तयोः सम्भावनास्तीति भावः ।

१८. जैसे चूहे और बिल्ली का विरोध स्वाभाविक है, वैसे ही अविद्या और ब्रह्मविद्या का विरोध भी स्वाभाविक है । अतः दोनों एक अधिकरण में नहीं रह सकते ।

१९. आम्रवणन्यायः

यथा वन इतरवृक्षसत्त्वेऽप्याम्राणां बाहुल्ये यथाऽऽम्रवणव्यपदेश एवमेकस्य प्राधान्ये भूयस्त्वात्तद्वाद इति न्यायेन तद्व्यपदेशो यत्र तत्रास्य प्रवृत्तिः ।

१९. जैसे वन में अन्य वृक्षों के होते हुए भी आम्रवृक्ष की बहुलता के कारण उस वन का नाम आम्रवन पड़ जाता है, वैसे ही किसी एक की प्रधानता के कारण उस शब्द से उसका व्यवहार हुआ करता है । पञ्चभूतों की पञ्चीकरण प्रक्रिया में यह बात स्पष्ट की गयी है । भगवान् वेदव्यास ने भूयस्त्वाधिकरण में इस रहस्य का उद्घाटन किया है । अर्थात् पृथ्वी इत्यादि भूतों में जहाँ जिसकी अधिकता है उस नाम से ही उसका व्यवहार होता है । ऐसे स्थान पर आम्रवणन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

२०. उपयन्नपयन्धर्मविकारन्यायः

यथा पूर्वस्य रूपरसादिरूपधर्मपरावृत्तौ रूपरसाद्यांतरोत्पत्तौ च घटादेर्धर्मिणो विकृतिरेवं यस्य धर्मिणः पूर्वधर्मस्यापगमेऽन्यधर्मस्योत्पत्तिस्तत्रास्य प्रवृत्तिः ।

२०. जिस प्रकार पूर्व के रूप रसादि धर्म हट जाते हैं और दूसरे रूप रसादि उत्पन्न हो जाते हैं; इससे घटादि धर्म में विकार माना जाता है, वैसे ही जिस धर्मी के पूर्वधर्म का विनाश और अन्य धर्म की उत्पत्ति होती हो वहाँ पर इस न्याय की प्रवृत्ति होती है । आम आदि फल में विलक्षण पाकसंयोग के कारण ऐसा परिवर्तन होता देखा जाता है । इस परिवर्तन को ही विकार कहते हैं ।

२१. उपवासाद्वरं भक्ष्यम् (आपद्धर्मन्यायः)

यथाऽऽपत्तिकाले भोजनाप्राप्तौ मरणासन्नदशायां येन केनापि प्रकारेण प्राप्तान्नेन जीवनं रक्षणोपयुक्तं, तथैव नीतिशास्त्रेषूद्दिष्टम् । अकरणे मन्दकरणं श्रेय इत्यपि न्यायमिमं वदन्ति न्यायविदः ।

२१. जिस प्रकार आपत्तिकाल में भोजन न मिलने पर मरणासन्न दशा हो जाने पर जिस किसी प्रकार से भी प्राप्त अन्न के द्वारा जीवन की रक्षा करने का आदेश नीतिशास्त्रों में दिया गया है । 'सर्वथा न करने की अपेक्षा थोड़ा करना भी कल्याणकारक है' ऐसा न्यायरहस्यवित् पुरुष कहते हैं । इसी का नाम आपद्धर्मन्याय है ।

२२. उपोद्घातन्यायः

चिन्तां प्रकृतार्थसिद्धयर्थमुपोद्घातं प्रचक्षते । यथा तक्राभिलाषेण कश्चिदन्यगृहं गत्वा पृच्छति यत्तव गृहे गावो दुग्धं ददतीति । प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ संगृह्य तादर्थ्येनान्यार्थोपवर्णन-मुपोद्घातः ।

२२. प्रसङ्गागत अर्थ की सिद्धि के लिए चिन्तन को उपोद्घात कहते हैं । जैसे छाछ की इच्छा से कोई पुरुष पड़ोस के घर जाकर पूछता है कि आप के घर में गाय दूध देती है ? अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थ को मन में रखकर उसके लिए अन्य अर्थ के वर्णन को उपोद्घात कहते हैं ।

२३. अलंकृत्यशिरच्छेदन्यायः

यागाद्यनुष्ठानावसरे पूर्वमजादिकं पशुमलंकरोति पश्चात् देवेभ्यस्तमुपहरति, तत्रैवायं न्यायः प्रवर्तते । प्रकृते वेदान्तविचारात्पूर्वं ब्रह्मणि जगदारोप्यते, ततो नेति निषेधवचसा जगदपोद्यते । अथाध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयत इत्यभियुक्तैरुक्तमपि सङ्गच्छते ।

२३. यागादि अनुष्ठान के समय पहले बलि दिये जाने वाले पशु को अलंकृत करते हैं, तत्पश्चात् देवताओं के पास उसे ले जाकर बलि देते हैं । ऐसे ही वेदान्त विचार से पूर्व ब्रह्म में जगत् का आरोप करते हैं, तत्पश्चात् 'नेति नेति' इत्यादि निषेधवाक्य द्वारा जगत् का अपवाद किया जाता है । अर्थात् अध्यारोप और अपवाद के द्वारा निष्प्रपञ्च निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन होता है,

२४. उष्ट्रकण्टकभक्षणन्यायः

उष्ट्रस्य शमीकण्टकवेधजातदुःखकालेऽपि शमीपत्रभक्षणसुखलेशो यथा, तथाभीष्टविषयोपार्जन-
दुःखकाले तदुपार्जितद्रव्यजसुखलेशो यत्रोपदिश्यते तत्रास्य प्रवृत्तिः ।
ऐसा दर्शनरहस्यवित् पुरुषों का कहना भी संगत हो जाता है । ऐसे स्थान पर ही अलं-
कृत्यशिरच्छेदनन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

२४. जिस प्रकार शमीवृक्ष के काँटों से ऊँट का मुख घायल हो जाने के कारण उसे दुःख का अनुभव होता है, उसी समय उसे शमीपत्र के खाने से सुखलेश का अनुभव भी होता है; वैसे ही अभीष्ट वस्तु के उपार्जन करते समय दुःखानुभव के साथ उस उपार्जितद्रव्यजनित सुखलेश का अनुभव भी होता रहता है । ऐसे स्थल पर उष्ट्रकण्टकभक्षणन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

२५. उष्ट्रलगुडन्यायः

यथोष्ट्रवाह्येन भक्ष्यशाखासमुदायैकदेशभूतलपतितेन लगुडेनोष्ट्रः ताड्यते । एवं यत्र प्रति-
वादिभिरुपस्थापितानां तर्काणां मध्य एकं तर्कमादाय प्रतिवादिनस्ताड्यन्ते निगूह्यन्ते, तत्रायं
न्यायः प्रवर्तते ।

२५. ऊँटगाड़ी पर रखे हुये ऊँट के द्वारा खाये जाने योग्य गन्ने के नीचे गिर जाने पर उस अधः-
पतित गन्ने से ऊँटवाहक ऊँट को मारता है । ऐसे ही जहाँ पर प्रतिवादियों के द्वारा उपस्थापित तर्कों में
से किसी एक तर्क को लेकर प्रतिवादी पर प्रहार किया जाता है, उस समय प्रतिवादी निग्रह स्थान
में पहुँच जाता है वहाँ पर उष्ट्रलगुडन्याय प्रवृत्त होता है ।

२६. एकवृन्तगतफलद्वयन्यायः

एको वटुर्दभकुशाग्रपाणिः आम्रस्य मूले सलिलं ददाति । आम्रश्च सिक्तः पितरश्च तर्पिता, एकाक्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा ।

२६. पितरों के उद्धार करने योग्य 'गया' तीर्थ क्षेत्र में एक ब्रह्मचारी हाथ में कुशा लेकर घड़े से आम्रवृक्ष को सींचता है, साथ ही 'पितरस्तृप्यन्ताम्' ऐसे मन्त्र भी पढ़ता रहता है । ऐसा करने पर आम्रवृक्ष का सिंचन भी हो गया और पितरों का तर्पण भी हो गया । एक क्रिया से दो अर्थ सिद्ध हो गये, ऐसे ही स्थल पर एकवृन्तगतफलद्वयन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

२७. कदम्बकोरकन्यायः

कदम्बगोलकस्य = गोलकाकारकदम्बस्य सर्वावयवेषु यथा युगपत्पुष्पोद्गम एवं सर्वप्रदेशेषु युगपद्यत्र कार्यप्रसरस्तत्रास्य प्रवृत्तिः ।

२७. गोलकाकार कदम्ब के सभी अवयवों में जिस प्रकार एक साथ पुष्प निकल आते हैं, ऐसे ही जहाँ सभी प्रदेशों में एक साथ कार्य होता हो वहाँ पर कदम्बकोरकन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

२८. कफोणिगुडन्यायः

कफोणौ गुडाभावेऽपि तत्प्रत्याशया यथा लेहनायासस्तथा वस्त्वसद्भावेऽपि यत्र तदाशया व्यापारभेदस्तत्रास्य प्रवृत्तिः ।

२८. जैसे किहुनी में गुड़ के न रहने पर भी गुड़ खाने की इच्छा से किहुनी को चाटने

का आयास व्यर्थ है; वैसे ही जहां वस्तु के न रहने पर भी उसकी आशा से व्यापार करना व्यर्थ है; वहां पर कफोडीगुड़न्याय की प्रवृत्ति होती है।

२६. काकतालीयन्यायः (यादृच्छिकन्यायः)

काकस्यागमनं यादृच्छिकं तालस्य पतनं च तेन तालेन पतता काकस्य वधः कृतः । एवमेव देवदत्तस्य तत्रागमनं दस्यूनां चोपनिपातः तैश्च तस्य वधः कृतः तत्र यो देवदत्तस्य दस्यूनां च समागमः स काकतालसमागमसदृशः । तालः करतलयोः शब्दजनकः संयोगः तस्मिन् क्रियमाणे उत्पतन्काको दवात्तत्र तालाभ्यामाक्रान्तोऽभूत्तदेतत्काकतालीयमित्युच्यते । काकस्पर्शसमकालं तालफलस्य तालवृक्षस्य वा पतनं तदित्यन्ये । श्रूयते च “अथवावस्तुविज्ञानात्फलं लभ्येत ईप्सितम् । काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते” ।

२६. दैवात् कौए का आना और ताल का गिरना और उससे कौए का मर जाना, इसे काकतालीयन्याय कहते हैं। ऐसे ही देवदत्त का आना और अकस्मात् चोरों के आक्रमण से देवदत्त का मर जाना, इसे काकतालीयन्याय कहते हैं। करतलों के शब्द-जनकसंयोग को भी ताल कहते हैं। ऐसे ताली पीटने पर दैवयोग से उड़ता हुआ काक उन तालियों से आक्रान्त हो जाता है, इसे भी काकतालीय कहते हैं। काक के बैठने के साथ ही तालफल अथवा तालवृक्ष के पतन को भी काकतालीयन्याय कहते हैं, ऐसा कुछ लोगों का कहना है। सुनते हैं जो वस्तु जसी नहीं है उसको उस रूपा में जान लेने पर फल प्राप्त हो जाय तो

इसे भी काकतालीयन्याय से सम्वादिभ्रम कहते हैं । इसका एक नाम यादृच्छिकन्याय भी है ।

३०. काकदन्तपरीक्षान्यायः (निष्फलप्रयासन्यायः)

यथा काकस्य कति दन्ता इति परीक्षायां न किञ्चित्प्रयोजनं सिध्यति । एवं यत्र निष्फल-
प्रयत्नस्तत्रैवायं न्यायः प्रवर्तते ।

३०: कौए के कितने दाँत होते हैं ? ऐसी परीक्षा करने पर कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।
इस प्रकार जहाँ पर प्रयत्न निष्फल हो वहाँ ही काकदन्तपरीक्षान्याय अथवा निष्फलप्रयासन्याय
प्रवृत्त होता है ।

३१. काकाक्षिगोलकन्यायः

“बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचात्मनं समर्पयन् । द्वैधीभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितः” । यथा
काकस्यैकमेवक्ष्युभयोर्गोलकयोः क्रमशः गच्छदयथानुकूलं सर्वमवलोकयति । तथैवोभयोर्द्विषतो-
र्बलिनोर्मध्ये तिष्ठन्विवेकी पुरुषो द्वैधीभावेनात्मनं वाचा समर्पयन्वर्तेतेत्यर्थः ।

३१. दो बलवान् संघर्षरत हों उस बीच में वाणीमात्र से अपने आप को समर्पित करते
हुए द्वैधीभावना से रहना चाहिए, किसी एक का पक्ष नहीं लेना चाहिए । अर्थात् काक को आँख के
समान अलक्षित रहना चाहिए; जिस प्रकार काक की एक आँख क्रमशः दोनों गोलकों में जाती
हुई सभी अनुकूल वस्तु को देखती है, वैसे ही दो परस्पर संघर्षरत बलवानों के मध्य में रहने वाला

विवेकी पुरुष द्वैधीभाव से अपने आप को वाचा समर्पित करता रहे। इसी को काकाक्षिगोलकन्याय कहते हैं।

३२. काशकुशावलम्बनन्यायः

नद्यादौ पतितस्य सन्तरणानभिज्ञस्य यथा कुशकाशावलम्बनं निरर्थकमेवं प्रबलयुक्तिषु निराकृतासु दुर्बलयुक्त्यवलम्बनं निरर्थकमित्येवमवलम्बनस्य निरर्थकत्वविवक्षायामस्य प्रवृत्तिः।

३२. नदी आदि में गिरा हुआ व्यक्ति तैरना न जानता हो, यदि उस समय कुशकाश का आलम्बन कर बचना चाहता हो तो उसका वह प्रयास व्यर्थ है। ऐसे ही प्रबल तर्कों के निरास हो जाने के बाद दुर्बल तर्कों का आलम्बन निरर्थक है। ऐसे स्थान पर काशकुशावलम्बनन्याय की प्रवृत्ति होती है।

३३. कुण्डबदरन्यायः

आधाराधेयभाव एकाश्रयत्वेन न सामानाधिकरण्यं, नहि भवति कुण्डं बदरमिति कुण्ड-बदरन्यायः।

३३. जहाँ आधार आधेय भाव हो वहाँ एकाश्रयत्वेन सामानाधिकरण्य नहीं होता है। जैसे कुण्ड में बेर रखा हो तो वहाँ पर आधार-आधेय भाव है, वहाँ कुण्डबदरम् ऐसा प्रयोग नहीं होता। इसी को कुण्डबदरन्याय कहते हैं।

३४. कूपमण्डूकन्यायः

“कथं मामपि दशदिग्विलासिनीकर्णपूरीकृतकोर्तिपल्लव त्रिभुवनवीरनामधेयं कूपमण्डूकेन सागरमविख्यातमपदिशसि” । सदैव कूपे वसन् सागरमजानन्मण्डूको यथा कूपमेव सर्वाधिकजलपूर्णं मन्यते, तथैवातिपरिच्छिन्नबुद्धिपुरुषो बुद्धिमन्तमपि पुरुषमबुद्धमपदिशति । तत्रायं न्यायः प्रवर्तते ।

३४. सदा कुएँ में रहने वाला एवं सागर के परिमाण को न जानने वाला मेढक जैसे कूप को ही बड़ा जलाशय मानता है वैसे ही अतिपरिच्छिन्न बुद्धिवाला पुरुष बुद्धिमान पुरुष को भी मूर्ख समझता है । जिसको कोर्ति दशों दिशाओं में फली हो, अतएव जिसका नाम त्रिभुवनवीर प्रसिद्ध हो चुका हो ऐसे मुझ लोकविश्रुत पुरुष को कूपमण्डूक की भाँति परिच्छिन्न बतलाना भी ठीक नहीं है । ऐसे स्थान पर कूपमण्डूकन्याय प्रवृत्त होता है ।

३५. कूपयन्त्रघटकान्यायः

कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्न यत्युन्नतिं कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान् । अन्योन्यं प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधयन्नेष क्रीडति कूपयन्त्र-घटकान्यायप्रसक्तो विधिः ।

३५. रहट के चलने पर क्रमशः कुछ बाल्टियाँ जल से खाली हो जाती हैं, कुछ बाल्टियाँ भरती हैं । वह यन्त्र कुछ को ऊपर ले जाता है और कुछ को नीचे डालता है । इस प्रकार पक्ष प्रतिपक्ष

संघातरूप इस लोक को स्थिति को काल बोध कराता रहता है। यह काल की गति कूपघटिकायन्त्र की भाँति चलती रहती है।

३६. कूर्माङ्ग (रक्षण) न्यायः

यथा कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरारे निविशमानानि तिरोभवन्ति निःसरन्ति चाविर्भवन्ति । एवं तन्त्रवादे पटादयो विशेषा निःसरन्त आदिर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते, निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते ।

३६. कछुवे के अंग शरीर के भीतर प्रविष्ट हो जाने पर नहीं दिखाई पड़ते, और बाहर आने पर दिखाई पड़ते हैं। ऐसे ही तन्त्रवादि से पटादि प्रकट होते हैं तब उत्पन्न माने जाते हैं और जब तिरोहित होते हैं तब नष्ट कहे जाते हैं। इसे कूर्माङ्गरक्षणन्याय कहते हैं।

३७. कैमुतिकन्यायः

अत्युत्कृष्टत्वापकृष्टत्वापादनावसरे किञ्चिदपेक्षया यत्र कस्यचिदुत्कृष्टत्वादिकमापाद्यते तत्रायं न्यायः प्रवर्तते । यथा—“यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः” इति । यत्र विदुषामपीन्द्रियाणां जयो दुःशकस्तत्राविदुषां प्रयत्नहीनानामिन्द्रियजयो भवेदिति किमुत वक्तव्यमिति भावः ।

३७. जहाँ अत्यन्त उत्कृष्ट और अत्यन्त निकृष्ट को बतलाते समय किसी की अपेक्षा से किसी को उत्कृष्ट या निकृष्ट कहा जाता है वहाँ पर कैमुतिकन्याय प्रवृत्त होता है। जैसे जहाँ विद्वान और

प्रयत्नशील पुरुष की इन्द्रियों को भी प्रमथनशील स्वभाव वाला यह मन विषयों की ओर खींच ले जाता है वहाँ पर सामान्य पुरुष के सम्बन्ध में कोई क्या कहे ।

३८. खले कपोतन्यायः

यथा कस्मिंश्चित्खलेऽनेके कपोताः सहैवोत्पतन्ति निपतन्ति च; तद्वदविवेकिनः सहैव संसार-विषयेषु प्रवर्तन्ते च । अत आह गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिक इति ।

३८. जिस प्रकार किसी खल (खलिहान) में अनेक कबूतर एक साथ बैठते हैं और वहाँ से एक साथ ही उड़ते हैं; वैसे ही अविवेकी पुरुष संसार विषयों में एक साथ ही प्रवृत्त होते हैं । इसी को खलेकपोतन्याय कहते हैं । विद्वान लोग इसे गतानुगतिक कहते हैं । यह पारमार्थिक नहीं माना जाता ।

३९. खल्वाटबिल्वीयन्यायः

यथा खल्वाटः पर्यटन्नतकितं श्रीफलतरोरधस्तादागतो दैववशाच्च बिल्वफलं तदुपरि पतितं, तद्वदन्योप्युभयवस्तुसंयोगो दैवादुच्यते—'खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके । वाञ्छन्दे-शमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलङ्गतः । तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः । प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः' ।

३९. जिसके सिर के बाल उड़ गये हों उसे खल्वाट कहते हैं । जिस प्रकार सूर्य की किरणों से संतप्त खल्वाट किसी बिल्ववृक्ष के नोचे गया धूप से बचने के लिए पर दुर्भाग्यवश उसी समय बिल्वफल के गिरने पर उसका मस्तक फट गया और जोर से शब्द हुआ । ऐसा संयोग दैववशात् ही

होता है । भाग्यहीन व्यक्ति जहाँ जाता है वहीं आपत्ति आ धमकती है । इसी को खलवाटबिल्बीय न्याय कहते हैं ।

४०. गगनरोमन्थन्यायः

पार्थिवदेहवत्त्वाद्यथा गोमहिषादयो रोमन्थायन्ते, तेन भक्षितानि तृणादीनि पच्यन्ते, न तथा गगने रोमन्थकल्पनं युक्तं, तस्यापार्थिवत्वात् । अतोऽसम्भवस्थलेऽस्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति भावः ।

४०. पार्थिव शरीर वाला होने से गाय भैंस रोमन्थ करती हैं, उससे उनके खाये हुए घासाद पच जाते हैं । ऐसे रोमान्थ को कल्पना आकाश में नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह पार्थिव नहीं । ऐसे असम्भव स्थल पर गगनरोमन्थन्याय प्रवृत्त होता है ।

४१. गडुरिकाप्रवाहन्यायः

यथा यदा गडुरिकानां—अवीनां संघादेका चेन्नद्यादौ पतति तदा तत्संघान्तर्गताः सर्वेऽपि वार्य्यमाणा अपि अवयस्तत्र पतन्तीति लोकप्रसिद्ध्या यत्र वार्य्यमाणानामप्यनिष्टमार्गे धावनं तत्रास्य प्रवृत्तिः ।

४१. जिस प्रकार भेड़ों के समूह में से एक भेड़ नदी या तालाब में कूद पड़ती हो तो उस समूह की सभी भेड़ें रोकने से भी रुकती नहीं और वे कूद हो पड़ती हैं । ऐसी लोकप्रसिद्धि के कारण रोकने पर भी अनिष्ट मार्ग में लगने वाले के लिए गडुरिकाप्रवाहन्याय प्रयोग किया जाता है ।

४२. गुडजिह्विकान्यायः

यथा तिक्तताभिया निम्बपानमकुर्वाणस्य बालस्य जिह्वायां गुडलेपं दत्त्वा पित्रादिस्तं निम्बं पाययति । एवमर्थवादवाक्यानि बह्वायाससाध्ये कर्मण्यप्रवर्तमानं पुरुषं स्वर्गाक्षय्यादिकं श्रावयित्वा प्रवर्तयन्ति । अतः फलश्रुतिरपि रोचनार्थः ।

४२. जैसे तिक्तता के भय से निम्बरस पान न करने वाले बालक की जीभ में उसके माता पिता गुड़ का लेप देकर उसे निम्बरस पान कराते हैं, ऐसे ही अर्थवाद वाक्य बहुअ याससाध्य कर्म में प्रवृत्त न होने वाले पुरुष को स्वर्ग की नित्यता बतलाकर प्रवृत्त कराते हैं । अतः फलश्रुति भी गुडजिह्विकान्याय के सदृश्य रोचनार्थ ही है ।

४३. गोबलीवर्दन्यायः

बलीवर्दस्य गोविशेषत्वेऽपि बलीवर्दस्य भटिति गोत्वेन बोधनार्थं यथा प्रयोगस्तथान्ययोः सामान्यविशेषरूपयोर्भटिति बोधनार्थं यत्र प्रयोगस्तत्रास्य प्रवृत्तिः । अत्र चानेकपदोपदाने गोबलीवर्दन्यायेन पुनरुक्तिपरिहारः । यत्र गाः बालयबलीवर्दं चेत्युच्यन्ते तत्र गोपदेनं च बलीवर्दपदसिद्धौ बलीवर्दपदं दुर्दम्यत्वज्ञापनपरत्वेन सफलमिति कल्प्यते ।

४३. बैल भी गो का ही एक भेद है; फिर भी गोत्वेन झटित बोध कराने के लिए बलीवर्द शब्द का प्रयोग जैसे होता है, ऐसे ही दूसरे सामान्य विशेष रूप गुण से झटित बोध कराने के लिए जहां प्रयोग होता हो वहाँ गोबलीवर्दन्याय लगता है । इसीलिए कहा है कि यहां पर अनेक पद

ग्रहण करने में पुनरुक्ति का परिहार गोबलिवर्दन्याय से कर लेना चाहिए । जहाँ पर गायों को गिनो और बैलों को भी गिनो, ऐसा कहा गया हो वहाँ पर गो पद से ही बैल भी गृहीत हो जाता है; फिर भो बलिवर्द पद का प्रयोग दुर्गम्यत्वज्ञापनपरक होने से सफल है ।

४४. गोमयपायसीयन्यायः

कथञ्चित्समाधीयमानमप्येतद्गोमयपायसीयन्यायमाक्षिपति । गोमयं पायसं गव्यत्वादित्यादि न्यायमतदूषणं समाधीयमानमप्याक्षिपति तिरस्करोतीत्यर्थः । एवं चायमभेदसाधको हेतुर्गोमय-पायसीयन्यायवदाभासतां व्रजेत् ।

४४. 'गोबर पायस है गो का विकार होने से' इत्यादि न्यायसम्मतदूषण का समाधान हो जाने पर भी आक्षेप होता है । इस प्रकार यह अभेद साधक हेतु गोमयपायसीयन्याय की भाँति आभासता को प्राप्त हो जायेगा । अर्थात् कथाञ्चित् समाधान कर दिये जाने पर भी गोमयपाय-सीयन्याय की भाँति आक्षेप होता है ।

४५. गौणमुख्यन्यायः

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्पत्तिः । यद्यपि यथा सिंहशब्दस्य गौणीवृत्त्या शूरत्वक्रूरत्वादिगुण-सम्पन्ने माणवकेऽपि प्रवृत्तिः, तथापि सिंहो नर्दतीत्यत्र मुख्यार्थ एव केसरादिमति वन्यपशौ सिंह-शब्दस्य मुख्यवृत्त्या प्रवृत्तिरवगन्तव्येति बोध्यम् ।

४५. गौण और मुख्य में से मुख्य में ही कार्य की प्राप्ति होती है । जैसे शूरत्व

कूरत्वादि गुणों से युक्त बालक में यद्यपि सिंह शब्द का प्रयोग गौणवृत्ति से होता है, तथापि 'सिंह दहाड़ता है' इस वाक्य का प्रयोग केसरादि से युक्त मुख्यार्थ वन्यपशु में ही मुख्यवृत्ति से सिंह शब्द का प्रयोग समझना चाहिए।

४६. घट्टकुटीप्रभातन्यायः

कश्चिद्वणिग्विचारयति स्म, यत्किलात्र नगरे मया प्रवेशशुल्कं न देयमिति मत्वा मुख्यं राजपथं परित्यज्य सङ्कीर्णं यथा यावद्रात्रि गच्छन्नपि प्रातस्तत्रैव समायाति, यत्र राजपुरुषो नगरं प्रविशद्भ्यो वणिग्भ्यो नगरप्रवेशशुल्कं गृह्णातीत्यत्रैवास्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति भावः।

४६. किसी व्यापारी ने विचार किया कि मुझ इस नगर में प्रवेश शुल्क नहीं देना है। ऐसा निश्चय कर मुख्यमार्ग को छोड़कर छोटे सङ्कीर्ण मार्ग से रात्रि भर चलता रहा फिर भी प्रातःकाल वहाँ पर ही पहुँचा जहाँ नगर प्रवेश करने वाले व्यापारियों से राजपुरुष नगर प्रवेश शुल्क (चुंगी) ग्रहण करते हैं। ऐसे प्रसङ्ग पर घट्टकुटीप्रभातन्याय का प्रयोग होता है।

४७. घुणाक्षरन्यायः (अन्धचटकन्यायः)

घुणोत्किरणात्कथंचिन्निष्पन्नमक्षर घुणाक्षरम्। तदिव यदकुशलेन दंवाग्निष्पद्यते तद्घुणाक्षरम्—“अहो घुणाक्षरन्यायो यदिदं भ्रमरद्वयं प्रति मद्योक्तं बन्दिद्वयं प्रतिफलितं वचः। त्रीन्वारान्समरे जित्वा जितं मेने समुग्मुनिम्, सकृज्जयमरेर्वीरा हि घुणाक्षरम्।

४७. काष्ठ में होने वाले काटविशेष को धुन कहते हैं, कभी उसके द्वारा काष्ठ में अक्षर भी

निकल आते हैं। ठीक इसी प्रकार अकुशल व्यक्ति के द्वारा कभी-कभी दैवयोग से अच्छा कार्य हो जाता है कि अहो घृणाक्षरन्याय ही यह माना जायेगा जो दो भौरे के लिए मैने वन्दोद्वय शब्द का प्रयोग किया था। समर में तोन बार जीतने पर जब किसी को विजेता माना था, किन्तु यह तो शत्रु को एक बार जीत लेने पर भी घृणाक्षरन्याय से वीर माना जायेगा।

४८. चन्द्रचन्द्रिकान्यायः

अतः सर्वदेवकारणस्य रुद्रस्य या शक्तिश्चन्द्रचन्द्रिकान्यायेन तदुद्बोधरूपिणी स्वाधीनवल्लभेति प्रसिद्धा, संव भवानो।

४८. सभी देवताओं के कारण महादेव को जो 'शक्ति' है वह चन्द्रचन्द्रिकान्याय से महादेव को भी जगाने वाली स्वाधीनवल्लभा भवानी नाम से प्रसिद्ध है।

४९. चालनीन्यायः

यथान्नादिपरिष्कृतुं चालनीति पात्रविशेषे पौनः पुन्येन चाल्यमाने सर्वाण्यन्नानि तत्रस्थानि छिद्राण्यनुसृत्य तैरधो निर्यान्ति, तद्वद् "पर्वतो वह्निमानित्यत्र हेत्वधिकरणे तत्तत्पर्वतादौ सर्वेषां वह्नीनामभावो धतुः" शक्य इत्यर्थः।

४९. जिस प्रकार अन्नादि परिष्कार के लिए उपकरणविशेष चालनी को बार बार चलाने से उसके छिद्रों द्वारा सब अन्न नीचे चले जाते हैं, वैसे ही "पर्वतो वह्निमान्" इस प्रयोग में

हेत्वधिकरण तत्तद् पर्वतादि में सभी महानसीय आदि वह्नि का अभाव ग्रहण किया जा सकता है । इसी को चालनीन्याय कहते हैं ।

५०. चोरयामिकन्याय

प्रयोजनानुपयुक्ते काले तस्य स्वरूपतोऽवस्थानं पाटञ्चरलुण्ठिते वेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्त-
मनुहरति ।

५०. प्रयोजन न सिद्ध होने योग्य काल में यदि किसी वस्तु का स्वरूपतः अवस्थान माना भी जाय तो वह लुटेरों से घर के लुट जाने पर पहरेदार के जागरण वृत्तान्त का ही अनुहरण करता है । अर्थात् लुटेरों से घर लुट जाने पर पहरेदार का जागना उस समय कोई मतलब नहीं रखता है । ऐसे स्थल पर चोरयामिकन्याय लगता है ।

५१. चौरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्यायः

तस्मात्भेदप्रत्यक्षं न सुप्रसरमिति चेत्किं वस्तुस्वरूपभेदवादिनं प्रतीमानि दूषणान्युद्द्युष्यन्ते
किंवा धर्मभेदवादिनं प्रति, प्रथमे चौरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्यायापातः ।

५१. दूसरे के अपराध से जहाँ दूसरे को दण्डित किया जाता हो वहाँ पर चौरापराधान्माण्ड-
व्यनिग्रहन्याय प्रवृत्त होता है । जैसे 'अभेद सिद्धि में भेदप्रत्यक्ष का प्रवेश नहीं होता' ऐसा कहने पर प्रश्न होता है कि वस्तुस्वरूप भेदवादी के लिए आप ने दोष का उद्घोष किया है अथवा भेदप्रत्यक्ष-
वादो के लिए ? प्रथम पक्ष में चौरापराध से माण्डव्यनिग्रहन्याय प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है ।

५२ छत्रिन्यायः

एकस्तत्र कर्मफलं पिबति = भुङ्क्ते नेतरस्तथापि पातृसम्बन्धात्पिबन्तावित्युच्यते छत्रिन्यायेन, “ऋतं पिबन्तौ” इत्यत्र तु जीवे पिबत्यशयनयाद्यतोतः परमात्मापि साहचर्याच्छत्रिन्यायेन पिबतीत्युपचर्यते । यथा लोके छत्रिणो गच्छन्तीति प्रयोगे सपरिवारे राज्ञि गच्छति छत्र्यछत्रि-समुदाये छत्रिशब्दो वर्तते । एकसमूहवाहित्वेनैव पिबदपिबत्समुदाये पिबतिर्वर्तत इत्यर्थः ।

५२. जहाँ पर कर्मफल का भोक्ता एक हो, दूसरा नहीं; फिर भी कर्मफलभोक्ता के साथ सम्बद्ध होने के कारण छत्रिन्याय से दानों को भोक्ता कह देते हैं । जैसे लोक में ‘छाते वाले जाते हैं’ ऐसा प्रयोग वहाँ होता है जहाँ जाने वालों में से किसी एक के पास छत्रि हो, वहाँ छत्रि और अछत्रि-समुदाय सम्पूर्ण राजपरिवार में छत्रि शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है । ऐसे ही एक समूहवाही होने के कारण कर्मफलभोक्ता और अभोक्ता समुदाय में पिबति शब्द का प्रयोग हो जाता है ।

५३. तमोदीपन्यायः

“अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद्यो मानेनात्यन्तमूढधीः । स तु नूनं तमः पश्येद्दीपेनोक्तं तेजसा” । अज्ञानं नान्तःकरणवृत्तिविषयं, यस्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणेनाज्ञानं ज्ञातुमिच्छति स तु मूढधीः तमो दीपेन प्रकाशयितुं वाञ्छतीत्यत्रैव न्यायोऽयं प्रवर्तते ।

५३. वह अत्यन्त मूढ़बुद्धि पुरुष है जो प्रमाण से अज्ञान को जानना चाहता है । नि सन्देह वह अँधरे को दीपक के द्वारा देखना चाहता है । ऐसे स्थल पर तमोदीपन्याय लगता है ।

५४. तुष्यतुखलन्यायः

तुष्यतु दुर्जन इति रूपेणानभिमतमपि समाधानमुररीकृत्य यत्रापरान्दोषानारोपयति, तत्रेवायं न्यायः प्रवर्तते ।

५४. जो समाधान अभिमत नहीं है उसे भी कुछ क्षण के लिए स्वीकार कर जहाँ पर अन्य दोषों का आरोप करते हैं वहाँ ही तुष्यतुखलन्याय लगता है ।

५५. दग्धपटन्यायः

“सर्वं खल्विदं ब्रह्म” “ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्” इत्यादि श्रुतिबलात्सर्वमहमिति गिरिनदी-समुद्रात्मकं सर्वं जगत्स्वाभिन्नसच्चिदानन्दब्रह्मात्वेनानुभूय तस्य दग्धपटन्यायेन प्रपञ्चभानेऽप्यद्वैतं सच्चिदानन्दलक्षणं वस्तु भासत एवेत्यर्थः ।

५५. यह सम्पूर्ण गिरि, नदी, समुद्रादि जगत एवं स्वयं मैं अपने से अभिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप में अनुभव कर उसे दग्धपटन्याय से प्रपञ्च का भान होने पर भी अद्वैत सच्चिदानन्दस्वरूप ही भासता है वहाँ पर दग्धपटन्याय लगता है । अर्थात् अद्वय ब्रह्मज्ञान के द्वारा बाधितानुवृत्ति से द्वैत जगत का भान होने पर दग्धपटन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

५६. दण्डसर्पमारणन्यायः

सर्पमारणार्थं तत्कालमेव. कुठारादिनाऽभिनवदण्डच्छेदनप्रवृत्तिर्व्यर्था, तेनैव कुठारादिना सर्पच्छेदनस्य कर्तव्यत्वादित्यर्थः ।

५६. सर्प को मारने के लिए तत्काल कुल्हाड़े से कोई नूतन दण्ड बनाने के लिए बाँस

काटता हो तो उसका वह प्रयास व्यर्थ ही है, क्योंकि उसी कुल्हाड़ से सर्प को मार देना चाहिए था। ऐसे स्थल पर दण्डसर्पमारणन्याय लगता है।

५७. दण्डापूपिकान्यायः

दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते—मूषिकेण दण्डो भक्षितश्चेदिहस्थः पूपोऽप तेन भक्षित इति न्यायो दण्डापूपिका, तयान्यार्थागमोऽर्थान्तरप्रत्ययोऽर्थापत्तिरित्यर्थः।

५७. किसी ने कहा, “यहाँ रखा हुआ दण्ड कहाँ गया?” उत्तर दिया कि दण्ड तो चूहे ने खा लिया। भला वहाँ रखे हुए दण्ड को जब चूहे ने खा लिया तो तत्रस्थ मालपूड़े को भी खा लिया कहा जायेगा। इस प्रकार दण्डपूपिकान्याय से अर्थान्तरबोध को अर्थापत्ति कहते हैं।

५८. दुर्देवन्यायः

यत्रैकं दोषं परिहरतोऽन्ये बहवो दोषाः समायान्ति, तत्रैवायं दुर्देवन्यायः प्रवर्तत इति ध्येयम्।

५८. जहाँ पर एक दोष को हटाने चले वहाँ पर जब दूसरे अनेकों दोष आ जाते हैं, ऐसे स्थल पर ही दुर्देवन्याय प्रवृत्त होता है।

५९. देहलीदीपन्यायः

पशावपि क्रियमाणान्यङ्गानि पुरोडाशस्य सन्निहितानि सन्निधानाच्च पुरोडाशस्याप्युपकुर्वन्तीति। प्रदीपवत् यथा प्रासादे कृतो दीपः सन्निधानाद्वाजमार्गेऽप्युपकरोति।

५९. पशुयाग में अंगों का अनुष्ठान करने पर पुरोडास के सन्निहित अंगों का भी उपकार

हो जाता है। जैसे राजमहल में जलने वाले दीपक का प्रकाश उसके निकटवर्ती राजमार्ग पर भी आ जाता है। ऐसे स्थल पर देहलीदीपन्याय लगता है।

६०. नष्टाश्वदग्धरथन्यायः

यत्र द्वयोर्वणिजोर्द्विभ्यां रथाम्यामेकस्माद्गगान्नगरान्तरं सहगच्छतोरेकस्याश्वो मृतोऽपरस्य रथो दग्धस्तत्र द्वौ वणिजौ मिथो विचार्य सहव्यापाराय सम्भूय शेषयात्रां समापयितुरवशिष्टौ रथाश्वौ संयोज्य कार्यं समारभेते, तत्रैवास्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति भावः।

६०. दो व्यापारी रथ द्वारा एक नगर से दूसरे नगर व्यापार के लिए जा रहे थे। उनमें से एक का घोड़ा मर गया और दूसरे का रथ जल गया। उस समय दोनों व्यापारियों ने परस्पर मिलकर व्यापार करने का निर्णय किया तत्पश्चात् शेष यात्रा पूर्ण करने के लिए बचे हुए रथ और घोड़े को जोड़कर दोनों ने कार्य प्रारम्भ किया। ऐसे स्थल पर नष्टाश्वदग्धरथन्याय लगता है।

६१. नहि खदिरगोचरपरशौ पलाशे द्वैधीभावो भवति

नह्यन्यत्र कृतो व्यापारोऽन्यं गोचरयितुं शक्नोति। यथा खदिरं छेत्तुं व्यापारितः परशुर्न पलाशं छेत्तुं प्रभवति, तद्वदित्यर्थः।

६१. अन्यत्र किया गया व्यापार अन्यत्र फल को उत्पन्न नहीं करता। जैसे खदिर काटने के लिए किये गए व्यापार से पलाश का छेदन नहीं होता। ऐसे स्थल पर यह खदिरगोचरपलाश-न्याय प्रवृत्त होता है।

६२. नहि वरविघाताय कन्योद्वाहः

विषकन्यायां वृत्तायां यत्र वरस्य घातः सम्भाव्यते तत्र तां नोद्वहेदेवं विवक्षायामस्य प्रवृत्तिः । तथा चानिष्टान्तरपातादिसम्भावनायामभीष्टहेतुरपि वस्तु न वरणीयमित्येवं तन्न्यायतात्पर्यम् । अयमेव न्यायः क्वचिन्नहि वरविघाताय कन्यामुद्वाहयतीति न्यायतया पठ्यते । विदधे विषकन्याश्च सैन्ये पण्यविलासिनीः प्राहिणोत्पुरुषांश्चैव निशासु छद्मघातिनः ।

६२. जहाँ पर जिस कन्या के वरण करने से वर का मरना सम्भव हो वहाँ नहि वरविघाताय-कन्योद्वाहः न्याय लगता है । अर्थात् जहाँ अनिष्टान्तर प्राप्ति की संभावना हो वहाँ अभीष्ट वस्तु का भी वरण नहीं करना चाहिए, यह इसका तात्पर्य है ।

६३. निर्धनमनोरथन्यायः

यत्र दरिद्रो निर्धनो मनोरथं कुरुते घटपरिमाणान् सक्तून् विक्रीय पौनःपुन्येन क्रयविक्रय व्यापारेण धनसम्पन्नो भविष्यामि, तद्वन्मनोरथमात्रेण न किमपि कार्यं निःसरतीति भावः ।

६३. जहाँ कोई निर्धन दरिद्र मनोरथ करता है कि एक घड़े सत्तू को बेवकर पुनः पुनः क्रय-विक्रय व्यापार से मैं धनवान हो जाऊँगा, वहाँ मनोरथ मात्र से कोई कार्य नहीं होता । ऐसे स्थल पर निर्धनमनोरथन्याय लगता है ।

६४. पङ्कप्रक्षालनन्यायः

“धर्मार्थं यस्य वित्तेहातस्यापि न शुभावहा प्रक्षालनाद्विपङ्कस्य दूरावस्पर्शं वरम्” । क्वचिद्वरं

तस्य निरीहतेत्यपि पाठः । अतः सांसारिकभोगाकांक्षयानुष्ठीयमानानां धर्माणामनुष्ठानापेक्षया तेषामननुष्ठानमेव वरम् । यतो हि सांसारिकभोगाकांक्षया धर्मानुष्ठानावसर अधर्मोऽप्यनिच्छया सम्पद्यते, तन्निवृत्त्यर्थं पुनरपि धर्मोऽनुष्ठीयते, एतादृशं धर्मानुष्ठानं पङ्कप्रक्षालनन्यायमनुसरति ।

६४. धर्मानुष्ठान के लिए भी धन का संग्रह अच्छा नहीं है, क्योंकि धनसंग्रह करते समय अनिच्छया अधर्म हो ही जाता है । उस अधर्म का निवृत्ति के लिए पुनः धर्मानुष्ठान वैसे ही है जैसे कोई कोचड़ में फँस कर उसे धोने का प्रयास करता है । इससे तो अच्छा यह होगा कि कोचड़ में फँसे नहीं । ऐसे स्थल पर ही पङ्कप्रक्षालनन्याय लगता है ।

६५. पङ्गवन्धन्यायः

यथा गतिशक्तिरहितस्य पङ्गोर्गतिसाधनाय गतिमतोऽन्धसापेक्षया दृष्टिशक्तिरहितस्य चान्धस्य गतिशक्तिसत्त्वेऽपि स्वाभीष्टदेशगमनं दर्शकमन्तरेण न सम्भवति । तथा च यथा स्वस्वकार्याय तयोरन्योऽन्यापेक्षा तथा क्रियारहितस्य पुरुषस्य सक्रियप्रज्ञानस्यापेक्षा, दृष्टिशक्तिरहितस्य च प्रधानस्य दृष्टिशक्तिपुक्तपुरुषस्यापेक्षेत्यत उभाभ्यामन्योऽन्यमपेक्ष्य स्वस्वकार्यं निष्पाद्यत इत्यर्थः ।

६५. जैसे क्रियाशक्तिहीन पंगु गतिशक्तिसम्पन्न किसी अंधे की अपेक्षा कर अपने में गति चाहता है, वैसे ही दर्शनशक्तिरहित अन्धा गतिशक्तियुक्त होने पर भी अपने अभीष्ट देश तक पहुँचने के लिए किसी दर्शक की अपेक्षा करता है । इस प्रकार अपने अपने अभीष्ट सिद्धि के लिए अन्धा और पंगु एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं । ऐसे ही दर्शनशक्तिप्रधान दर्शनशक्तियुक्त पुरुष की

अपेक्षा करता है एवं क्रियाशक्तिशून्य पुरुष क्रियाशक्तिसम्पन्न प्रधान की अपेक्षा करता है । इस प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा से दोनों ही अपना कार्य साधते हैं । ऐसे स्थल पर पञ्चबन्धन्याय लगता है ।

६६. पञ्जरचालनन्यायः

यथैकपञ्जरवर्तिन एकादशपक्षिणः प्रत्येकं प्रति नियतव्यापाराः सन्तः, सम्भूयैकं पञ्जरं चालयन्ति, एवमेकशरीरवर्तिन एकादशप्राणाः प्रत्येकं प्रति नियतवृत्तयः सन्तः सम्भूयैकां प्राणाख्यां वृत्तिं प्रतिलप्स्यन्त इति ।

६६. जैसे एक पिजरे में रहने वाले ग्यारह पक्षी एक साथ मिलकर नियत व्यापार करते हुए पिजरे को भी उठा लेते हैं, ऐसे ही एकशरीरवर्ती एकादशप्राण मिलकर नियत व्यापार करने से जीवनप्राण करते हैं; ऐसे स्थल पर पञ्जरचालनन्याय लगता है ।

६७. पारिशेष्यन्यायः

प्रसक्तप्रतिषेधे सत्यन्यत्राप्रज्ञाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः पारिशेष इति न्यायेनान्यत्राप्रसङ्गमुक्त्वा शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः ।

६७. प्राप्त का प्रतिषेध कर देने पर अन्यत्र प्रसङ्ग नहीं आता, तब शेष का जो बोध होता है इसी को पारिशेष्यन्याय कहते हैं ।

६८. पिष्टपेषणन्यायः

यदि तावच्छ्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृतस्ततः पिष्टपेषणवत्पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यात् ।

६८. यदि सुने हुए अर्थ के सम्बन्ध में ही पुनः प्रश्न करता हो तो पीसे हुये को पुनः पीसने की भाँति पुनरुक्त एवं अनर्थक प्रश्न हो जायेगा, इसी को पिष्टपेषणन्याय कहते हैं ।

६९. पुष्करपलाशन्यायः

आत्मविदोऽसङ्गत्वोपपादनाय श्रुत्योच्यते तद्यथेह पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवं ह्येवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते । तथैव गीतायामप्युक्तं 'लिप्यते न स पापेन पद्मप्रत्र-मिवाम्भसा' ।

६९. आत्मज्ञानी की असंगता बतलाने के लिए श्रुति ने कहा है कि जैसे कमलपत्र पर जल का संश्लेषण नहीं होता ऐसे ही ज्ञानी में पापकर्म का लेप नहीं होता । गीता में भी ऐसा ही कहा है कि ज्ञानी कमलपत्र की भाँति पापकर्म से लिप्त नहीं होता । इसी को पुष्करपलाशन्याय कहते हैं ।

७०. पुष्टलगुडन्यायः

एकतन्त्रकोयमतनिरासाय प्रयुक्त्या युक्त्या तत्सदृशमतान्तरनिराकरणं यदा विवक्ष्यते तदास्य प्रवृत्तिः । यथा बहूनां शुनां मध्ये एकस्य शुनः प्रहारार्थं प्रक्षिप्तः पुष्टलगुडस्तं प्रहृत्यान्यानपि शुनां परिहरति ।

७०. जैसे अनेक कुत्तों में से किसी एक कुत्ते पर प्रहार के लिए फेंका हुआ दण्ड उस पर प्रहारकर दूसरे पर भी प्रहार करता है, ऐसे ही एकतन्त्रीयमत निराकरण के लिए प्रयोग की गयी युक्तियों से तत्सदृशमतान्तर का निराकरण जब अभीष्ट होता है तब पुष्टलगुडन्याय लगता है।

७१. प्रदीपे प्रदीपं प्रज्वालय तमोनाशाय यतमानः

लघोरूपायात्साध्यसिद्धौ भवन्त्यां गुरावुपाये प्रवर्तमानस्य तवैवेदं दोषोद्भावनं प्रदीपे प्रदीपं प्रज्वालय तमो नाशाय यतमानस्यैव पुंसः।

७१. छोटे उपाय से साध्य को सिद्धि हो जाने पर बड़े उपाय में प्रवृत्त होने वाले तुझमें यह दोषोद्भावन वैसा ही है जैसे जलते हुए दीपक के समीप दूसरे दीपक को जलाकर कोई पुरुष अंधेरे को नाश करने का प्रयत्न करता हो। ऐसे स्थल पर प्रदीपे प्रदीपं प्रज्वालय तमोनाशाय यतमानः इस न्याय की प्रवृत्ति होती है।

७२. प्रधानमल्लनिबणहंन्यायः

यत्र प्रधानमल्ला निगृहीतास्तत्र तदधीनाः सर्वे मल्ला निगृहीता भवन्तीति सांख्यमतनिराकरणानन्तरं सर्वे दार्शनिका निराकृता वेदितव्या इति भगवत्पादराचार्यशङ्करैः स्वीयभाष्ये पुनः पुनरिदमुद्धोषितम्।

७२. जहाँ पर प्रधान मल्ल निगृहीत हो गया वहाँ उसके अधीन सभी मल्ल निगृहीत माने जाते हैं। अतः प्रधानमल्ल सांख्य के निराकृत हो जाने पर सभी दार्शनिकों को निराकृत समझने

चाहिए। ऐसी उद्धोषणा भगवत्पाद शङ्कराचार्य जी ने अपने भाष्य में बार-बार की है। इसी को प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय कहते हैं।

७३. बकबन्धविधिप्रयासन्यायः (द्राविडप्राणायामन्यायः)

बकं जिघृक्षुः कश्चित्पुरुषः सूर्यरश्मिसन्तप्ते बकशिरसि नवनीतं निदधाति, ततो बिलीनेन नवनीतेन बकनेत्रयोः पूर्णतयान्धीभूतं बकं जिघृक्षतीति बकबन्धन्यायो द्राविडप्राणायामन्यायसमः।

७३. बक को पकड़ने की इच्छा वाला कोई पुरुष सूर्यकिरण से संतप्त बक के सिर पर नवनीत इस अभिप्राय से रखता है कि पिघले हुए नवनीत से बक की दोनों आँखें जब पूर्णरूप से भर जायेंगी तो उस अन्धबक को मैं पकड़ लूँगा। इसी को बकबन्धविधिप्रयासन्याय कहते हैं जो द्राविडप्राणायामन्याय के समान है।

७४. बध्यघातकन्यायः (अहिनकुलादिन्यायः; सूषकमार्जारिन्यायः)

यथाऽऽखुभूषितामहिभूषितां च भूमिमवलोक्य मार्जाराभावो नकुलाभावश्चावगम्यते, तद्वत् “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म”त्यत्र सत्यादेः पदाद्ब्रह्मणि सत्यत्वादिपदार्थमवगम्य तेन पश्चाद्विरोधाद्विरोधिनोऽनृतादेरभावं जानातीत्यर्थः।

७४. जिस प्रकार चूहे से विभूषित भूमि को देखकर ‘यहाँ बिल्ली नहीं आती’ ऐसा निश्चय हो जाता है एवं सर्प से भूषित भूमि को देखकर नकुलाभाव का निश्चय होता है ठोक वैसे ही सत्य, ज्ञान एवं अनन्त पद से ब्रह्म में सत्यत्वादि पदार्थ का बोधकर तत्पश्चात् उनके साथ विरोध होने के कारण विरोधी अनृतादि के अभाव को भी जान लेता है; अर्थात् ब्रह्म में सत्यत्वादि है और

अनृतत्वादि नहीं है ऐसा समझता है। इसी को बध्यघातकन्याय अथवा अहिनकुलादिन्याय अथवा मूषकमार्जारन्याय कहते हैं।

७५. बीजाङ्कुरन्यायः

नच कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति, नच शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीत्यतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः, अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति।

७५. कर्म के बिना शरीर नहीं बनता और शरीर के बिना कर्म नहीं हो सकता। इस प्रकार इन दोनों में जब अनन्याश्रयत्वदोष आ जाता है तो इस दोष को हटाने के लिए बीजाङ्कुरन्याय से कर्म एवं शरीर की परम्परा को अनादि मान लेने पर कोई दोष नहीं रह जाता। अतएव इसका नाम बीजाङ्कुरन्याय है।

७६. ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायः (तक्रकौण्डिन्यन्यायः)

ब्राह्मणा भोजयितव्याः परिव्राजकाश्च। ब्राह्मणेभ्यः परिव्राजकेषु वंशिष्ट्यावद्योतनाय ब्राह्मणभ्यो दधि दीयतां तक्र परिव्राजकेभ्य इत्यादौ ब्राह्मणदृष्ट्या परिव्राजकेभ्यो दधिदीयतां तेभ्यो तक्रमपि दीयताम्। तथैव कौण्डिन्याय ब्राह्मणाय दधि दीयते तक्रमपि दीयत इत्यर्थः।

७६. 'ब्राह्मणों को भोजन करा दो और संन्यासियों को भो भिक्षा दे दो' ऐसा कहने पर ब्राह्मणों का अपेक्षा संन्यासियों में वंशिष्ट्य जान पड़ता है। इसी वंशिष्ट्य को बतलाने के लिए 'ब्राह्मणों को दधि दो और संन्यासियों को तक्र (छाछ) दो' इत्यादि वाक्य में ब्राह्मणदृष्टि से संन्या-

सियों को दधि और तक्र दोनों देते हैं। ऐसे ही 'ब्राह्मणों को दधि और कौण्डिन्य को तक्र दो' इस वाक्य से कौण्डिन्य ब्राह्मण को दधि और तक्र दोनों देते हैं, इसी को ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय अथवा तक्रकौण्डिन्यन्याय दोनों कहते हैं।

७७. ब्राह्मणवशिष्ठन्यायः

वैदिकानां लौकिकत्वेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं पृथग्ग्रहणं, यथा ब्राह्मणा आगता वशिष्ठोप्यागत इति । अत्र वशिष्ठागमनस्य वशिष्ट्यं प्रतिभातीति भावः ।

७७. लोक सिद्ध होने पर भी वैदिकों में प्राधान्य बतलाने के लिए उन्हें पृथक् ग्रहण किया जाता है। जैसे 'ब्राह्मण आये और वशिष्ठ भी आये' ऐसा कहने पर वशिष्ठ के आगमन की विशेषता जान पड़ती है। ऐसे स्थल पर ब्राह्मणवशिष्ठन्याय प्रवृत्त होता है।

७८. ब्राह्मणश्रमणन्यायः

ब्राह्मणाः पूज्याः सन्ति, ततोऽपि ब्राह्मणत्वविशिष्टसन्यासी श्रेष्ठ इत्यर्थविद्योतनाय न्यायोऽयं प्रवर्तते इति भावः ।

७८. ब्राह्मण पूज्य हैं, उनसे भी ब्राह्मणत्वविशिष्ट सन्यासी श्रेष्ठ है। इस अर्थ को बतलाने के लिए ब्राह्मणश्रमणन्याय प्रवृत्त होता है।

७९. भक्षितोऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः

यद्यपि लशुनभक्षणं शास्त्रनिषिद्धं तथापि व्याधिनाशनार्थं तद्वृक्ष्यते, तथासत्यपि व्याधिर्न शान्त इति, यत्र निषिद्धाचरणेऽपि न लौकिकं सुखं लब्धं, तत्रैवायं न्यायः प्रवर्तते इत्यर्थः ।

७६. यद्यपि लशुनभक्षण शास्त्रनिषिद्ध है फिर भी रोगनाश के लिए औषधि रूप में खाया जाता है। निषिद्ध लशुन खाने पर भी जहाँ रोग नष्ट न हुआ हो अर्थात् जहाँ निषिद्ध आचरण करने पर भी लौकिक सुख प्राप्त न हुआ हो, ऐसे स्थान पर ही भक्षितोऽपि लशुने, न शान्तो व्याधिः इस न्याय की प्रवृत्ति होती है।

८०. भविष्यद्वृत्तिन्यायः

दृष्टश्च लोके भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य शब्दप्रयोगो यथा तण्डुलं पचतीति प्रयोक्तव्य ओदनं पचतीति, शास्त्रं च “परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणां दद्यात्” इत्यादिस्तथेहेति केचिद् ब्रह्मभावी पुरुषो ब्राह्मण इति व्याचक्षते।

८०. लोक में भावी वृत्ति को मानकर शब्द प्रयोग देखा गया है। जैसे ‘चावल पकाता है’ ऐसा कहना चाहिए था इस स्थान पर ‘भात पकाता है’ ऐसा प्रयोग देखा जाता है। शास्त्र में कहा है “सभी प्राणियों को अभयदान करने के बाद संन्यासी बनता है” ऐसे स्थल पर ऐसा प्रयोग भी देखा जाता है कि “संन्यासी सभी प्राणियों को अभयदान देवे” जबकि सभी प्राणियों को अभयदान देने के बाद संन्यास ग्रहण किया जाता है, वैसे ही कुछ लोग यहाँ पर ऐसी ही व्याख्या करते हैं कि ब्रह्मभावी पुरुष को ब्राह्मण कहा जाता है। इसी को भविष्यद्वृत्तिन्याय कहते हैं।

८१. भिक्षुपादप्रसारणन्यायः

यथा कश्चिद्विषुयथेष्टभोजनाच्छादनवासगृहादिलाभार्थं कस्याचिद्धनिनो गृहे प्रविश्य

युगपत्सर्वाभीष्टलाभं कामयमानः प्रथमं धनिगृहे मे पादप्रसारणमस्तु पश्चादनेन परिचयमुत्पाद्य सर्वमभीष्टं सम्पादयिष्यामीति धिया स्वल्पामपि भिक्षां बहुमन्यमानः पश्चात्क्रमेण स्वाभीष्टं सम्पादयत्येवं यत्र विवक्षा तत्रास्य प्रवृत्तिः ।

८१. कोई भिक्षु यथेष्ट भोजन, वस्त्र, आवास, गृहादि प्राप्ति के लिए किसी धनी के घर में प्रवेश कर एक साथ सभी अभीष्ट वस्तुलाभ की कामना करने वाला (वह भिक्षु) 'पहले उस धनी के घर में मेरा पादप्रसारण हो तत्पश्चात् उसके साथ परिचय प्राप्त कर सभी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लूंगा' इस निश्चय से प्रारम्भिक स्वल्प भिक्षा को भी बहुत मानता है, क्योंकि क्रमशः वह अपना सभी अभीष्ट प्राप्त कर लेता है । ऐसा अर्थ बतलाना जहाँ अभीष्ट हो वहाँ पर इस भिक्षुपादप्रसारणन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

८२. मण्डूकप्लुतन्यायः

यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति, तथैव सूत्राणां पदानुवृत्तिर्यत्र व्यवहितेषूत्तरसूत्रेषु गच्छति, तत्रैवास्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति बोध्यम् ।

८२. जैसे मेढक कूद-कूद कर चलते हैं वैसे ही जहाँ पर अन्य सूत्रों का व्यवधान रहने पर भी सूत्र के किसी पद की अनुवृत्ति जातो हो, वहीं पर मण्डूकप्लुतन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

८३. मध्यदीपिकान्यायः

यत्र प्रकोष्ठस्य मध्यभागे प्रदीपः प्रज्वलति तेन सम्पूर्णप्रकोष्ठे दीपप्रकाशः प्रसरति, तथैव

यस्य पुरुषस्य मध्यभागेऽवस्थानेन सर्वेषां श्रेयः कामुकानां लाभः सम्पद्यते, तत्रैवास्य न्यायस्य प्रवर्त्तनमित्यर्थः ।

८३. जहाँ पर किसी कमरे के मध्यभाग में दीपक जल रहा हो उससे सम्पूर्ण कमरे में प्रकाश फैलना हो, ठाक वैसे हो जिस व्यक्ति के मध्यभाग में बैठने से कल्याणकामी सभी पुरुषों को लाभ होता हो ऐसे स्थल पर हो मध्यदीपिकान्याय लगता है ।

८४. मानाधीना मेयसिद्धिः

मानाधीना मेयसिद्धिरिति न्यायेन प्रमाणस्य प्रथममुद्देशे तदनुसारेण लक्षणस्य कथनोपतया प्रथमोद्दिष्टस्य प्रथमं लक्षणं कथ्यते । मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्तत्त्वाध्यक्षादि मानेषु गीर्वाणैरपि दुर्भणम् । मानेन मेयावगतिश्च युक्ता धर्मस्य जाड्याद्विधिनिष्ठकाण्डे । मेयेन मानावगतिस्तु युक्ता वेदान्तवाक्येष्वजडं हि मेयम् ।

८४. 'प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है' इस न्याय से पहले उद्देश में प्रमाण का लक्षण करना पड़ता है तत्पश्चात् प्रमेय की चिन्ता की जाती है । 'प्रमाण के अधीन प्रमेय की सिद्धि होती है' ऐसा कहने पर यह लक्षण प्रत्यक्षादि प्रमाणों में देवताओं को भी समझना कठिन पड़ता है । इसीलिए कहा है 'प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान कहना ठीक हो है ।' विधिकाण्ड में वेद-प्रमाण से ही धर्म का बोध होता है क्योंकि धर्म जड़ है पर वेदान्तवाक्य में प्रमेय पदार्थ ब्रह्म-चेतन है, उसी से सभी प्रमाणों का बोध होता है । अर्थात् 'मानाधीना मेयसिद्धिः' यह परिभाषा अचेतन प्रमेय के लिए तो ठीक है

किन्तु चेतन प्रमेय के लिए ठीक नहीं। वेदान्त में प्रमेय वस्तु ब्रह्म चेतन है जो सबका प्रकाशक है। अतः मेय वस्तु ब्रह्म से प्रमाणादि का प्रकाश कहना ठीक ही है।

८५. मुञ्जादिषोकोद्धरणन्यायः

यथा मुञ्जादिषोका समुद्ध्यते । तथैवान्नमयादिभ्यः पञ्चकोशेभ्यो वेदान्तविचारेण स्वमात्मानमुद्धरति मुमुक्षुस्तत्रैवास्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति तात्पर्यम् ।

८५. जैसे मुञ्ज से तद्गत शलाका को पृथक् कर लिया जाता है वेदान्त विचार द्वारा अन्नमयादि पञ्चकोशों से मुमुक्षु अपनी आत्मा को पृथक् कर लेता है। वहाँ पर ही मुञ्जादिषोकोद्धरणन्याय की प्रवृत्ति हाती है।

८६. याचितमण्डनन्यायः

देवदत्तः गामानयेत्यादिप्रयोजकवृद्धवाक्यं श्रुत्वा तदनन्तरं प्रयोज्यवृद्धेन सास्नादिमन्तमर्थमानीय-मानमालोकयायमेतद्विषयकैतत् क्रियागोचरकार्यताज्ञानवांस्तद्विषयकचेष्टावत्त्वात्तद्विषयकप्रवृत्ति-मत्त्वाद्वा मद्वादिति प्रयोज्यवृद्धस्य ज्ञानमनुमिमोतेऽयमिति प्रयोज्यवृद्ध इत्यर्थः । एतच्छब्देन गवादिरुच्यते, द्वितीयेन तेनानयनादिक्रिया तथा च गोविषयकानयनादिक्रियागोचरकार्यताज्ञानवानि-त्यर्थः । क्रियाजनकप्रवृत्तः सविषयत्वात्तज्जन्यचेष्टाया अपि याचितमण्डनन्यायेन सविषयत्वम् । नहि याचितं मण्डनं याचितुः सदा मण्डनाय भवितुमर्हतीति ।

८६. 'हे देवदत्त ! गाय को ले आओ' प्रयोजकवृद्ध के इस वाक्य को सुनकर प्रयोज्यवृद्ध

सास्नादिमान व्यक्ति को ले आता है । इसे देखकर अन्य व्यक्ति यह अर्थ समझ जाता है कि उस वाक्य को सुनकर प्रयोज्यवृद्ध को उसका ज्ञान हो गया था क्योंकि वही उसकी चेष्टा और प्रवृत्ति देखी गयी । हम भी जानकर ही चेष्टा व प्रवृत्ति करते हैं । इस प्रकार प्रयोज्यवृद्ध ज्ञान का अनुमान अन्य व्यक्ति कर लेता है अर्थात् गोविषयक आनयनादिक्रिया गोचर कार्यता ज्ञानवाला प्रयोज्यवृद्ध था क्योंकि क्रियाजनक प्रवृत्ति सविषयक होती है । इस प्रकार याचितमण्डनन्याय से प्रयोज्यवृद्ध की प्रवृत्ति में सविषयक सिद्ध होता है पर माँगकर लाया हुआ आभूषण याचक को सदा आभूषित नहीं कर सकता ।

८७. लोष्टप्रस्तरन्यायः

यथा प्रस्तरं भेत्तुं तत्रापतितं लोष्टं विध्वंसन्ते, तद्वदेव मुख्यं प्राणं नाशयितुं प्रवृत्ता असुराः स्वयमेव विनश्यन्ति । तथैव बृहदारण्यकोपनिषदि प्राणस्य वैशिष्ट्योपपादनायोद्गोथविद्यायां निरूपितम् ।

८७. जैसे पत्थर को तोड़ने के लिए उस पर फेंका गया ढेला स्वयं ही नष्ट हो जाता है वैसे ही मुख्य प्राण को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त असुर स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं । यह प्रसङ्ग बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राण का वैशिष्ट्य बनाने के लिए उद्गोथविद्या में आया हुआ है ।

८८. वदतोव्याघातन्यायः

मम मुखे जिह्वा नास्ति, मम माता वन्ध्येति प्रयोगे वदतोव्याघातदोषः प्रवर्तते, नहि जिह्वा-

भावे केनापि किञ्चिद्वक्तुं शक्येत, नापि स्वमातुर्वन्ध्यात्वे स्वजन्म कथमपि सम्भावयितुं युक्त-
मिति भावः ।

८८. 'मेरे मुख में जीभ नहीं है और मेरी माता बन्ध्या है' इस प्रयोग में वदतोव्याघातदोष
आता है क्योंकि जिह्वा के अभाव में कोई कुछ बोल नहीं सकता और न अपनी माँ के बन्ध्या होने पर
अपना जन्म ही सम्भव कर सकता है । अतः ये दोनों ही प्रयोग वदतोव्याघातन्याय ग्रस्त हैं ।

८९. वरमद्यकपोतः श्वो मयूरात्

यत्र विलम्बेन विशिष्टफलं परित्यज्य सद्योजातमचिरं लभमानं स्वल्पीयोऽपि फलमभीष्टं,
तत्रैवास्य प्रवृत्तिरिति बोध्यम् ।

८९. जहाँ पर विलम्ब से मिलने वाले विशिष्ट फल को छोड़कर सद्य (शीघ्र) मिलने वाले
स्वल्पफल भी अभीष्ट होते हैं ऐसे स्थान पर ही 'वरमद्यकपोतः श्वो मयूरात्' इस न्याय की प्रवृत्ति
होती है ।

९० वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापणः

यत्र सन्दिग्धस्य भूयसो लाभस्य परित्यागो निश्चितोऽल्पीयानपि लाभोऽभीष्टस्तत्रायं न्यायः
प्रवर्तनीय इति ध्येयम् ।

९०. निष्क परिमाण की अपेक्षा कार्षापण परिमाण छोटा होता है । जहाँ पर निष्क परिमाण
का लाभ होना सन्दिग्ध हो और अल्प परिमाण कार्षापण का मिलना निश्चित हो ऐसे स्थान पर
'वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापणः' इस न्याय की प्रवृत्ति होती है ।

६१. विषकृमिन्यायः

“विप्र; अस्मिन्नगरे महान्कथय कस्तालद्रुमाणां गणः, को दाता; रजको ददाति वसनं प्रातर्गृहीत्वा निशि । को दक्षः, परदारवित्तहरणं सर्वोऽपि दक्षो जनः । कस्माज्जीवसि हे सखे; विषकृमिन्यायेन जीवाम्यहम्” ॥

६१. प्रश्न—हे ब्राह्मण ! तू बतला कि इस नगर में महान् कौन है ? उत्तर—तालवृक्षों का समुदाय । प्रश्न—दाता बड़ा कौन है ? उत्तर—धोबी, क्योंकि वह धोबी प्रातःकाल वस्तु ले जाता है और सायंकाल सबको देता है । प्रश्न—इस नगर में दक्ष कौन है ? उत्तर—परदार एवं परवित्त हरण करने में सभी व्यक्ति दक्ष हैं । प्रश्न—फिर हे मित्र, तू इस नगर में कैसे जीते हो ? उत्तर—विषकृमिन्याय से मैं इस नगर में जीवि । रह रहा हूँ । जैसे विष से उत्पन्न कीड़ा विष को खाकर जीवित रहता है वैसे ही ऐसे नगर में जन्म लेकर मैं इस वातावरण में जी रहा हूँ ।

६२. विषवृक्षन्यायः

विषवृक्षेऽपि संबध्यं स्वयच्छेत्तुमसांप्रतम्—यथा एते सर्वे तर्का अस्माभिरेव तर्कपदव्यामभिषिक्तास्ततो न प्रबन्धेन निरस्यन्ते ।

६२. अपने हाथ से लगाया एवं बड़ा किया गया विषवृक्ष भी स्वयं अपने हाथों से नहीं काटा जाता है । जैसे इन सभी तर्कों को हमने तर्कपद पर अभिषिक्त किया है, अतः इन्हें अपनी ही युक्तियों से निरस्त नहीं कर सकते हैं । इसी को विषवृक्षन्याय कहते हैं ।

६३. वीचितरङ्गन्यायः

यथा जलेषु लोष्टादिकं परिक्षिप्यते यदा तदा तत्र वीचयः चतुर्दिग्वर्तिन्यः सञ्जायन्ते ताश्च चतसृषु दिक्षु प्रसरन्ति, तद्वदेव ताल्वाद्यभिघातेन सञ्जाताः शब्दाः शब्दाश्चतुर्दिग्वर्तिनश्चतुर्दिक्षु प्रसरन्ति । इत्थं सर्वत्र प्रसरन्तः शब्दाः कणविवरवर्तिनि नभसि जायमाना अस्मदादिभिः श्रूयन्त इति वैशेषिका वदन्तीति भावः ।

६३. जल में पत्थर फेंकने पर चारों ओर फैलाने वाली तरंगें उत्पन्न होती हैं वे तरंगें चारों दिश ओं में पुनः अन्य तरंगों को उत्पन्न करती हैं । वैसे ही ताल्वादि अभिघात से चतुर्दिग्वर्ती शब्द उत्पन्न होते हैं, वे शब्द सभी ओर चारों दिशाओं में फैलते हुए कर्णछिद्रवर्ती आकाश में जब उत्पन्न होते हैं तब हम लोग भी सुनते हैं । ऐसे स्थल पर वैशेषिकों ने वीचितरङ्गन्याय की प्रवृत्ति बनलाई है ।

६४. वृद्धकुमारीवाक्यन्यायः

तद्यथा वृद्धकुमारीन्द्रेणोक्ता वरं वृणीष्वेति । सा वरमवृणोत पुत्रा मे बहुभ्रीरघूनमोदनं कांस्यपात्र्यां भुञ्जीरन्निति । न च तस्याः पतिर्भवति कुतः पुत्राः कुतो गावः कुतो धान्यम् । तत्रैकेन वाक्येन पतिः पुत्रा गावो धान्यमिति सर्वं संगृहीतं भवति ।

६४. किसी वृद्धकुमारी को इन्द्र ने 'वरदान मांगों' ऐसा कहा । इस वाक्य को सुनकर उस वृद्धकुमारी ने वरदान मांगा कि मेरे पुत्र स्वर्ण में दुग्ध घो से सिक्त भात खायें । जब उसके पति भी

नहीं है तो पुत्र कहाँ और धनसम्पदा-कहाँ से प्राप्त होंगे ? अर्थात् जहाँ पर एक ही वाक्य से पति, पुत्र, गायें और धनसम्पदा संगृहीत हो जाते हैं वहाँ पर वृद्धकुमारीवाक्यन्याय लगता है ।

६५. वृद्धब्राह्मणवरन्यायः

स्वपौत्रं राजसिंहासनास्थितिमोक्षितुमिच्छामि । यत्र कश्चिद्वृद्धो ब्राह्मणो दरिद्रः सन्ततिहीनस्तपस्तप्त्वा देवात् स्वाभीष्टं दुर्लभं वरं वृणीते तत्रायं न्यायः प्रवर्तते । एतेन पुत्र तत्पुत्रं धनं राजसिंहासनादिकं सर्वमभिमतं दुर्लभं वस्तु तेनावृतेति भावः ।

६५. अपने पौत्र को कोई वृद्ध राजसिंहासन पर आरुढ़ देखना चाहता है । जहाँ कोई वृद्ध दरिद्र संतानहीन ब्राह्मण तप करने के बाद देवता से अपने अभीष्ट दुर्लभ वरदान माँगता है वहाँ पर वृद्धब्राह्मणवरन्याय प्रवृत्त होता है क्योंकि यह वृद्ध ब्राह्मण एक ही वरदान के द्वारा पुत्र पौत्र धन राजसिंहासनादि सभी अभीष्ट दुर्लभ वस्तु को माँग लेता है ।

६६. वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि ते नष्टम्

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि विनष्टमिति न्यायः । वृद्धिधनप्रयोगेऽधर्मणात्प्राप्यांशभेदलाभस्तामिष्टवत उत्तमर्णस्याधर्मणादौ स्याद्यथा मूलं नश्यत्येवं यत्राभीष्टान्तरसम्पादनाय प्रयतमानस्य मूलं नश्यति तत्रास्य प्रवृत्तिः ।

६६. व्याज लाभ की इच्छा से जहाँ किसी को ऋण देता है वहाँ उत्तमर्ण को व्याज प्राप्त होना दूर रहा बल्कि अधर्मण को दिया हुआ मूलधन भी नष्ट हो जाता है, ऐसे अभीष्टान्तर वस्तु

प्राप्त करने लिए प्रयत्न करने वाले का जब मूल भी नष्ट हो जाता है वहाँ 'बुद्धिमिष्टवतो मूलमपि ते नष्टम्' यह न्याय प्रवृत्त होता है।

६७. शाकटिकन्यायः

ननु प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमभ्युपेयते नासत्त्वमिति चेत्तदेतत्सोऽयं शिरच्छेदेऽपि शतं न ददामि विशन्तिपञ्चकं तु प्रयच्छामि शाकटिकवृत्तान्तमनुहरेन्मिथ्या वासत्त्वयोः पर्यायत्वादित्यलमिति प्रपञ्चेन।

६७. किसी ने कहा 'प्रपञ्च को हम मिथ्या मानते हैं किन्तु असत्य नहीं मानते' तो वह कहना ऐसे ही है जैसे कि 'सिर कट जाने पर भी मैं सौ रुपया नहीं दूँगा, हाँ पाँच बौस तो दे सकता हूँ' इस शाकटिकवृत्तान्त का अनुहरण वह करता है। अर्थात् मिथ्यात्व और असत्य दोनों पर्याय हैं, इसे हम यहाँ पर विस्तार करना नहीं चाहते। ऐसे स्थान पर यह शाकटिकन्याय लगता है।

६८. शाखाचन्द्रन्यायः

यथा शाखातः सुदूरस्थमपि चन्द्रमसं दर्शयितुं पूर्वं शाखां दर्शयति, ततः शाखादर्शनानन्तरं सुखेन चन्द्रो दृश्यते, तथैवाज्ञमयादिषु कोषेषु क्रमशो यदाऽऽनन्दमयो दृश्यते तदाऽऽनन्दमयस्य कारणभूतः स्वात्माऽनायासेनोपलभ्यत इति भावः।

६८. यद्यपि वृक्ष की शाखा से चन्द्रमा बहुत दूर है फिर भी उस चन्द्रमा को दिखलाने के लिए पहले शाखा दिखलाता है, क्योंकि शाखा देख लेने पर चन्द्रमा अनायास हो दीख जाता है। ऐसे हो

अन्नमयादि कोशों को क्रमशः देखता हुआ आनन्दमय को देखता है । फिर तो आनन्दमयकोश के कारण अपनी आत्मा को वह अनायास ही देख लेता है ।

६६. शृङ्गग्राहिकान्यायः

शास्त्रं चात्र प्रवृत्तं सत्प्रवृत्तिं कुरुते द्विधा । विधानेन लोकदृष्टिसमाश्रयात् । शृङ्गग्राहिकया यद्वि बोधयेत्तद्विधायकम् । यथा लोके करे तेऽस्ति फलमित्यादि भाषणम् । तत्र विधायकशास्त्रस्य लक्षणं लौकिकमुदाहरणं चाह शृङ्गेति, शृङ्गस्य ग्रहणं यस्यां क्रियायां सा शृङ्गग्राहिका “संज्ञायामिति” ण्वुल् । यथा गोव्रजेका मदोया गौरिति गोपः पृष्टः शृङ्गं गृहीत्वा गां प्रदर्शयेत्तथा बोधकं शास्त्रं विधायकमुच्यते ।

६६. जहाँ पर प्रवृत्त हुआ शास्त्र दो प्रकार से प्रवृत्त करता है—विधिमुख से और निषेधमुख से अर्थात् लोकदृष्टि का आश्रय लेकर वह (शास्त्र) विधिमुख से पदार्थ का बोध कराता है तब वह शृङ्गग्राहिकान्याय विधायक माना जाता है । जैसे लोक में ‘तेरे हाथ में फल है’ विधायक शास्त्र लौकिक उदाहरण से सींग पकड़कर गाय का परिचय कराने को भाँति तत्त्व को बतलाता है । जिस क्रिया में सींग का ग्रहण होता हो उसे शृङ्गग्राहिका कहते हैं । यहाँ पर शृङ्गग्रह शब्द से संज्ञायाम् इस सूत्र से ण्वुल् प्रत्यय होता है तब शृङ्गग्राहिक शब्द निष्पन्न होता है । जैसे किसी ने गायों के घूमने की जगह में जाकर किसी गोप से पूछा ‘मेरी गाय कौन है?’ तब वह गोप शृङ्ग पकड़कर उस गाय को दिखला दे, ऐसे बोधक शास्त्र को विधायक कहते हैं ।

१००. श्येनकपोतीयन्यायः

श्येनकपोतयोरिव श्येनकपोतीयो दुर्योगः । यथा कपोतोऽतर्कितमागतेन श्येनेन गृहीतस्तथाकस्मिको यो दुर्योगः स एवमुच्यते ।

१००. जैसे किसी जगह पर बैठे हुए कबूतर को अकस्मान् श्येन पक्षी ने आकर पकड़ लिया हो, इस कपोत के आकस्मिक दुर्योग को श्येनकपोतीयन्याय कहते हैं ।

१०१. श्वश्रूनिर्गच्छोक्तिन्यायः

यथा भिक्षामटते माणवकाय भिक्षां प्रत्याचक्षाणामात्मनः स्नुषां भर्त्सयित्वा श्वश्रूः पुनस्तमाहूय समागते तस्मिन्नास्ति भिक्षा निर्गच्छेति व्याचष्टे ।

१०१. भिक्षा के लिए आये हुए किसी बालक को घर की पुत्रवधू ने भिक्षा देने से इन्कार कर दिया । इसे देखकर अपनी पुत्रवधू को सास ने खूब फटकारा और फिर उस ब्रह्मचागी को बुलाकर उस सास ने कहा कि भिक्षा नहीं है, तू यहाँ से चला जा । इसी को श्वश्रूनिर्गच्छोक्तिन्याय कहते हैं ।

१०२. सिकतातैलन्यायः

असम्भवार्थप्रतिपादनावसरेऽस्य न्यायस्य प्रवृत्तिः । नहि सिकताभ्यस्तैलं कश्चिच्छक्तोऽपि पुरुषो निष्काषयितुं शक्नोति, तस्यासम्भावित्वात्, तथैव परमात्मज्ञानमन्तरेण कोऽपि पुरुषो दुःखात्मकं संसारबन्धं तर्त्तुं न शक्नोतीति भावः ।

१०२. कोई समर्थ व्यक्ति भी रेत से तेल नहीं निकाल सकता क्योंकि यह असम्भव है, वैसे ही परमात्मज्ञान के बिना कोई भी पुरुष दुःखात्मक संसारसागर को पार नहीं कर सकता । ऐसे असम्भवार्थ बतलाते समय सिकतातैलन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

१०३. सिंहावलोकनन्यायः

यथा सिंहोऽग्रं गच्छन् मुहुमुहुः पृष्ठतः पश्यति, तथैव विद्वान् शास्त्रविचारकुशलः शास्तार्थं निर्णेतुं प्रवर्तमानः पौनः पुन्येन पूर्वोक्तमपि पदार्थमनुसन्धत्ते, तत्रैवास्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति ध्येयम् ।

१०३. जैसे सिंह आगे चलते समय बार-बार पीछे को ओर देखता है वैसे ही शास्त्रविचार में कुशल विद्वान् शास्त्रतात्पर्यनिर्णय के लिए जब प्रवृत्त होता है तब वह बार-बार पूर्वोक्त पदार्थ का अनुसन्धान करता है । ऐसे स्थल पर ही सिंहावलोकनन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

१०४. सूचीकटाहन्यायः

कश्चित् पूर्वमयस्कारं कटाहनिर्माणायावोचत् । ततः परं तमेव कश्चित् सूचीनिर्माणायाचकथत् । तयोः कटाहापेक्षयाऽल्पाय मसाध्यं सूचिं पूर्वं निर्म्मिमोते, कटाहं च पश्चात् । तथैवाधिकायाससाध्यं विलम्बेन सम्पाद्यमानं कार्यमवरुध्य पूर्वमल्पायाससाध्यमचिरेण सम्पाद्यमानं कार्यं कुरुते तद्विपरीतं च कार्यं पश्चात् कुरुते । तत्रायं न्यायः प्रवर्तत इत्यर्थः ।

१०४. किसी व्यक्ति ने पहले लोहार को कड़ाह बनाने के लिए कहा । बाद में उसी लोहार को किसी दूसरे व्यक्ति ने सूई बनाने के लिए कहा । इन दोनों में से कड़ाह बनाने को अपेक्षा अल्पप्रयास से बनने वाला सूई को उस लोहार ने पहले बनाया और कड़ाह को बाद में । वैसे ही अल्पायाससाध्य कार्य को पहले करता हो और अधिकआयाससाध्य कार्य को विलम्ब से करता हो, ऐसे स्थल पर सूचीकटाहन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

१०५. सूत्रबद्धशकुनिन्यायः

“स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपाश्रयते । एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते, प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः” इति ।

१०५. घागे से जिस पक्षा का पैर बाँध दिया गया हो वह इधर-उधर अन्यत्र स्थान न प्राप्त करके बन्धन स्थान पर आकर ही बँठता है । हे सोम्य ! ऐसे ही वह मन सभी ओर भाग कर अन्यत्र कहीं भी स्थान न प्राप्त करने के कारण परमात्मा का ही आश्रय लेता है क्योंकि हे सोम्य, मन सदा परमात्मा के साथ बँधा हुआ है । इस बात को समझाने के लिए सूत्रबद्धशकुनिन्याय प्रवृत्त होता है ।

१०६. स्थालीपुलाकन्यायः

लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वाच्चोदनाशब्दः सामान्यादेकेनापि निरूप्यते । यथा स्थालीपुलाकेन । एतन्न्याय-पूर्वकं लिङ्गमत्रापि दृश्यमानं तुल्यन्यायानां सर्वेषां धर्मवत्तां ज्ञापयति । यथा स्थाल्यां तुल्यपाकानां पुलाकानामेकमुपमृष्टान्येषामपि सिद्धतां जानाति ।

१०६. जैसे पतीली में पकने वाले चावलों में से एक चावल को दबाकर देखने से उस पतीली में पकने वाले सभी चावलों के पक जाने का निश्चय कर लेते हैं इस स्थालीपुलाकन्याय से जहाँ कहीं भी व्याप्तिआश्रय लिङ्ग को देख लेने पर साध्य का निश्चय हो जाता है । इस स्थालीपुलाकन्याय का प्रयोग शास्त्र में स्थल-स्थल पर देखा जाता है ।

१०७. स्थूणानिखननन्यायः

स्थूणादादर्याय यथा समारोपितां स्थूणां पुनः पुनः चालयित्वा द्रढयति, तद्वत् स्वसिद्धान्तं द्रढयितुं मुहुर्मुहुः प्रतिक्षिप्य समाधत्ते । तत्रास्य न्यायस्य प्रवृत्तिरित्यवधेयम् ।

१०७. जैसे गाड़े जाने वाले खूटे को दृढ़ बनाने के लिए बार-बार हिला कर देखते हैं वैसे ही अपने सिद्धान्त को दृढ़ बनाने के लिए बार-बार शङ्का उठा कर समाधान करते हैं । ऐसे स्थल पर स्थूणानिखननन्याय की प्रवृत्ति होती है ।

१०८. स्वामिभृत्यन्यायः

यथा स्वामिने स्वात्मानं समर्पयति भृत्यः, स्वामी च तादृशं भृत्यं दयया पालयति, तद्वत् भगवच्चरणाब्जयोः स्वात्मानं समर्पयन्तं भक्तं भगवानपि सर्वात्मना रक्षयति । तथा चोक्तं "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहामी" ति सततमवधेयम् ।

१०८. जैसे स्वामी के लिए सेवक अपने जीवन को समर्पित करता है तब स्वामी भी दया से आकृष्ट हो उस नौकर का पालन करता है, वैसे ही भगवान् के चरणों में अपने आप को समर्पित करने वाले भक्त को भगवान् भी सभी प्रकार से रक्षा करते हैं । यही बात 'उन नित्य अभियुक्त भक्ता के योग क्षेम को मैं वहन करता हूँ' भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है । इसी को स्वामि-भृत्यन्याय कहते हैं ।

इति सव्याख्याष्टोत्तरशतन्यायमाला समाप्ता ।